हिन्दीविजय ग्रन्थमाला प्रथम पुष्प।

श्री महावीर जीवन विस्तार।

पंडितवर्य मुनिराज श्री हरिसागरजी महाराजके
उपदेशानुसार श्रीमान् शेठ जेठाभाई [illegible]
जी जामनगरवालोंकी द्रव्य सहायतासे मुद्रित।

अनुवादक—
[illegible] दोशी, एम. डी. पी.

हिन्दी विजय ग्रन्थमाला प्रथम पुष्प।

श्री महावीर जीवन विस्तार।

अनुवादक,

ताराचंद्र दोसी. एम. टी. डी.

सम्पादक—" हिन्दी विजय ग्रन्थमाला ", " लघु लेखमाला "

"स्वास्थ्य ग्रन्थाला", "हिन्दी सिविल इन्जीनियरिंग

पुष्पमाला" आदि.

प्रकाशक—

बी. पी. सिंघी।

मैनेजर, " हिन्दी विजय ग्रन्थमाला "

सेक्रेटरी, हिन्दी संवर्द्धिनी समिति और

श्री ज्ञान प्रसारक मंडल, सिरोही.—आबूरोड.

'जैनविजय' प्रिन्टिंग प्रेस—सूरत।

[प्रथमावृत्ति.] वीर निर्वाण सं० २४४४, जून १९१८ ई०

मूल्य—समितिके मेम्बरोंसे ॥), ग्रन्थमालाके ग्राहकोंसे ॥=),

सर्व साधारणसे ॥।).

प्रकाशक-
अमृतमलजी सिंघी-आबूरोड।

मुद्रक-
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
जैनविजय प्रिन्टिंग प्रेस,
खपाटिया चकला, सूरत।

प्रकाशकका वक्तव्य ।

हमें जिस पुस्तककी बहुत अर्सेसे आवश्यक्ता प्रतीत होती थी, आज हम उस पुस्तकको हिन्दी भाषामें प्रकट करनेको शक्तिमान हुए हैं । हमे अब यही देखना अवशेष रह जाता है कि हिन्दी भाषा भाषी समाज इन पुस्तकोंकी कदर करनेके लिये कितने अंशमे तत्पर है । यदि इस पुस्तकका अधिक प्रचार होगा तो भविष्यमें हम ऐसी अनेक पुस्तकोंको हिन्दी विजय ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित करेंगे और हिन्दी साहित्यको विस्तारित करनेकी हमारी योजनाओंको क्रमसे अमलमें रखते जाएंगे ।

यहा पर यह उल्लेख करना अनुचित नहीं मालूम होगा कि इस ग्रन्थमालाका जन्म किन संयोगोंमें और कैसे हुआ ? जब पंडित वर्य्य मुनिराज हरिसागरजी महाराजका आगमन मारवाड़से सिरोहीमें हुआ तब उनसे हमारे परस्पर यह बात हुई कि हिन्दी भाषामें कोई ग्रन्थमाला प्रकाशित की जाय । उनकी सम्मति अनुसार हमने यह कार्य करना शुरू किया जिसमें हमारे विद्वद्वर्य्य मुनिराज धीरविजयजी महाराजने भी पूरा साथ दिया और इन दोनों मुनिराजोंकी सम्मति अनुसार × हिन्दी संवर्द्धिनी समिति कायम की । परन्तु यह हमेशा विश्वका अटल नियम है कि अच्छे कार्य्यमें सदा विघ्न आया करते हैं, और बात भी यही बनी कि हमारे ग्रन्थ-मालाके सम्पादक और पुस्तकोंके लेखक दोसी ताराचंद्र बीमार हो गये और वे करीब पांच छ महीने बीमार रहे इसी बीचमें

× इसके सेक्रेटरीसे Prospectus और नियम मगाकर देखे ।

इनकी मातुश्री और दादीजीने भी काल कर लिया। अतएव ये विटम्बनाओंसे गिर गये और आठ महीने तक कुछ भी कार्य नहीं कर सके। इसलिये हम हमारे पाठकोंसे माफी चाहते हैं जो कि अर्से इस पुस्तकको पढनेके लिये आतुर हो रहे हैं।

हमें अपने पाठकोंको यह दिखाते हुए हर्ष होता है कि अब हमारे मुनिगण सार्वजनिक और शिक्षा रहितके कार्यमें भाग लेने लग गये हैं। हमारी समितिके निम्न लिखित मुनिगण और साध्वि-ओंने भी संरक्षक होना कबूल किया है यदि हमें हमारे मुनिराजों साध्वियों, सेठों और सहायकोंकी ओरसे सहायता मिलती रही तो हम हमारे आदर्श पुरुषोंकी जीवनिमें इसी प्रकारका रस रेडते रहेंगे और उसका स्वाद जनसमाजको चखाते रहेंगे।

इतना नहीं अलावा इसके हम साहित्य आग, उपांग और स्वास्थ्य सम्बन्धी पुस्तकें भी इसी माला द्वारा हिन्दी भाषामें प्रकाशित करेंगे।

श्रीमद् पंडितवर्य्य मुनिराज धीरविजयजी महाराज
,, पंडितवर्य्य मुनिराज हरिसागरजी महाराज
,, ,, मुनिराज क्षेमसागरजी महाराज
श्रीमति साध्वीजी श्री गुणसरीजी महाराज

इस मालाके द्वारा अभी दो पुस्तकें निकलनेवाली हैं एक यही प्रस्तुत पुस्तक है:—

(१) **महावीर-जीवनविस्तार**-मुनिराज श्रीहरिसागरजी महाराजके उपदेशानुसार शेठ जेठालालजी कुशलचंद्रजी जामनगरवालोंकी ओरसे।

(२) **ज्ञानसार**-(श्लोक और हिन्दी भाषान्तर)-साध्वीजी श्री गुणश्री जीमहाराजके उपदेशानुसार खरतगढके श्रावक श्राविकाओंकी ओरसे।

नये प्रकाशित होनेवाले ग्रन्थ

१ तीर्थङ्कर चरित्र (इसमें चोवीस ही तीर्थंकरोके जीवन चरित्र होगे)

२ श्राविका सुबोध दर्पण--(स्त्री उपयोगी ग्रन्थ)

३ जीवन शक्तिका संगठन--(स्वास्थ्य रक्षाका अपूर्व ग्रन्थ)

४ वीरविमलशाहका चंद्रावतीपर अधिकार और गुजरातमें--पोरवालोंकी प्रभुता

५ भगवती सूत्रका हिन्दी भाषान्तर

६ विद्याचन्द्र और सुमति

जो हमने ऊपर नये प्रकाशित होनेवाले ग्रन्थोंका उल्लेख किया है उसमेंसे जिस ग्रन्थके छपानेको हमे पहिले सहायता मिलेगी वही ग्रन्थ पहिले प्रकाशित होगा।

इस समय निम्न लिखित पुरुष समितिका कार्य कर रहे हैं—

ताराचंद्रजो दोसी—सम्पादक।

भभूतमलजी पी० सिंघी—सहकारी सम्पादक और सक्रेटरी
बीजेराजजी चौधरी—सहकारी सेक्रेटरी

पंडितवर्य्य मुनिराज हरिसागरजी महाराजके उपदेशानुसार हिन्दी विजय ग्रन्थ मालाका पहिला पुष्प प्रकाशित करनेको व जैन समाजके ग्राहकोंको यह पुस्तक भेट देनेके लिये श्रीमान् शेठ जेठालालजी कुशलचन्द्रजी जामनगरवालोने इस पूरे ग्रन्थको छपानेके लिये जो सहायता दी है, अतएव यह समिति शेठश्रीको धन्यवाद देती है और भविष्यमे ऐसे उपयोगी कार्योंमें सहायता देनेके लिये सदा अनुरोध करती है हमारे उत्साही मित्र मेसर्स मेघजी हीरजी जो साहित्यके प्रेमी हैं और इसी उद्देशसे ये पुस्तक संचालकका कार्य करते हैं और इस पुस्तकको गुजरातीमें इन्होंने ही प्रकाशित की है अलावा इसके इसका हिन्दी अनुवाद करनेको इन्होंने हमें आज्ञा दी है अतएव यह समिति उनको धन्यवाद देती है।

प्रकाशक—सेक्रेटरी हिन्दी संवर्द्धिनी समिति।

भूमिका।

प्रभुके अवतरणका महत्व।

महावीरप्रभुके अवतरणका महत्त्व किस बातमें समाया हुआ है। अथवा किस देशमें उनका जन्म हुआ, था? अपना कल्याण साधनेके लिये किन २ विघ्नोंके सामने उन्हें होना पडा था? हम उनपर प्रसंगोपात दृष्टि डालते हैं। इस विश्वपर देवी और जगत् उधारक तनुओके प्रादुर्भावमें प्रवर्त्तित अनेक निमित्तोंका अवलोकन करनेसे मालूम होता है। कि जब समाज अथवा प्रजाका एक सत्ताधारी विभाग अपने स्थूल स्वार्थका रक्षण करनेके लिये असत्य और अधर्मका पक्ष लेकर अपनेसे अन्य शक्तिमान विभागको सत्यसे वंचित रखता है तब आक्रमित और पराजीत सत्यकी भस्ममेंसे एक ऐसा दिव्य स्फुलींग प्रकट होता है कि जिसकी प्रखर ज्वालामें आखिरकार अधर्म और अनीतिका नाश होजाता है और ऐसा होनेसे ही इस दिव्य स्फुलींगमें—इस दिव्यके विभूतिके प्रादुर्भावमें जितना नीतिका नहीं उतना अनीति और जितना धर्मका नहीं उतना ही अधर्मका हिस्सा होता है। पराभव प्राप्त सत्यको उसके मूल गौरव युक्त स्थानपर प्रतिष्ठित करनेके लिये महापुरुषोंका जन्म होता है। देवी और आसुरी सत्वोंके विग्रहमे जब आसुरी तत्त्व अपने उच्चतम स्थूल बलके प्रभावसे देवी

सत्यको दबा देता है और अपने अधर्म शासनको प्रवर्तित करता है तब उसके प्रति शासकके तौरपर दैवी सत्ताका पक्ष लेकर असत्यका निकंदन करनेके लिये प्रकृतिके गर्भागारमेंसे एक अमोघ वीर्यवान आत्मा जन्म लेता है और इस महावीरके जन्म लेनेका हेतु जगतकी सर्व देशीय प्रकृतिके अवरोधक कारणोंको दूर करनेके लिये ही होता है। महत्ता यह अकेला सामर्थ्यको लेकर नहीं आती है परन्तु वह विघ्नोंका परिहार करनेमें सामर्थ्यका उपयोग करती है और वह इतने प्रबल अंतराय और सामर्थ्योंके सामने लडनेमें उतने ही प्रमाणमें काममें आती है जितने प्रमाणमें जो २ महान् पुरुष महत्ता प्राप्त करके चले गये हैं वह मात्र उनके अन्तर्गत सामर्थ्यके प्रभावसे ही नहीं परन्तु उस सामर्थ्यको अधर्मके सामने रोककर आखिर अधर्मको परास्त करनेसे ही उन्हें प्राप्त होचुकी है। जो सामर्थ्य कार्य शून्य है उसकी जगतको कुछ खबर नहीं पडती। कहनेका आशय इतना ही है कि महापुरुषोंके महत्त्वका उपादान "अधर्म अथवा असत्यके सामने लडनेमें अपने स्वार्थके लिये कृत उपयोग ही है। वस्तुतः इन महानआत्माओंको आकर्षित करनेवाला अधर्म नहीं है परन्तु जब अधर्मका प्राबल्य सत्यस्वरूपको गुंगला कर देता है तब उस समय दुःखार्त्त सत्वका अन्तःपुकार उन परमात्माओंके पास पहुँचता है। महाजनोंका सच्चा महत्व तो अधर्म असत्य और अनीतिको ही आभारी है। रामकी महत्ता रावणके अधर्मसे ही बंधी हुई है। कृष्णका ऐश्वर्य कौरवोंकी अनीतिसे जगत्को मालुम हुआ है। इसी तरह प्रवृत्तिके प्रत्येक क्षेत्रमें जिन पुरुषोंने जो कुछ महत्ता

प्राप्त की है उन क्षेत्रोंमेंके नीच सत्वोंका पराजय करनेसे ही प्राप्त की है। महत्ताके महावीरताकी बातको दृष्टिमें रखकर हमें जानना चाहिये कि महावीर प्रभुका महत्व किस बातमें है उसीको अवलोकन करनेका प्रसङ्ग प्रस्तुत पुस्तकमें लिया गया है।

आवश्यक और उपकारक तत्व की प्रतिष्ठा।

अब महावीर प्रभु कौनसे असत्य और कौनसी अनीतिके सामने लडे थे और जगतमें कौनसे आवश्यक और उपयोगी तत्व दाखिल किये थे उनको हमे देख लेने चाहिये ? २५०० वर्ष पहिले आर्यावर्त्तकी महान् धर्म भावनामें परिवर्त्तन शुरू हो गया था। उपनिषद् और गीताके विशुद्ध तत्व लुप्त प्रायः हो गये थे और उनका स्थान मात्र अर्थहीन आचार, हेतुशून्य विधि और हृदय उद्वेगकारी क्रियायोंने लिया था परमार्थिक रहस्यकी कुछ भी विस्मृति नहीं हुई थी। देव और देवियोंकी संख्या इतनी शीघ्रतासे बढने लगी कि सर्वको संतुष्ट रखनेके महान् बोजेसे मनुष्यको अपना आत्म कल्याण करनेका अवकाश ही नही मिलता था। ब्राह्मण जिस गौरवको, जिस सम्राजको और जिस महत्वको अपने गुण कार्यके प्रभावसे ही मानते थे उनको परम्परा हक्कके तौरपर माननं लगे। ज्ञातियोंकी मर्यादा बहुत तङ्ग हो गई थी और स्थूल कीमतके बदलेमें ब्राह्मण लोग पारमार्थिक श्रयकी लालच देकर लोगोके बजाय क्रियाकांडमें अपने आप ही प्रवर्त्तित होते थे समाजकी श्रद्धा अधम रास्ते पर घसड़ी जाती थी और उसका अघटित लाभ उस समयके ब्राह्मण लेने लगे। धर्म भावनाका जीवन लुप्त होकर मात्र संप्रदायकी तंगी और क्रियाकांडकी

जड अवशेष रह गई थी। प्रभु महावीरके कालसे करीब ५०० वर्षपर करीब २ ऐसी ही वस्तुस्थिति थी। प्रभुकी विद्यमानतामें वेद युक्त यज्ञ यज्ञादि पूरे जोशसे चलते थे तो भी सौभाग्यका विषय यह था कि उस समयमें कितनेक समझदार ऋषि इन क्रियाओंको तुच्छ और स्पष्ट तौरपर देख सकते थे। इसलिये क्रियाकांडकी निरुपयोगिता उन्होंने समाजको समझा दी थी और उपनिषदोंकी रचना पर उनके रहस्य तरफ उनका लक्ष खिंचा था। असंख्य छोटे बडे देवोंको निकालकर उनका स्थान समस्त निसर्गके महाराज्यको देनेमें आया था जो एक परम तत्वसे व्याप्त था। वरुण, अग्नि, सूर्य आदि अनेक सत्वोंको प्रसन्न रखने पडते थे कारण कि वे व्यवहारमें दखल न करें। इसलिये यज्ञादिसे संतोष करनेका प्रचार परब्रह्मकी विशुद्ध भावनाके बलसे गौणताको प्राप्त हो चुका था और इससे ब्राह्मणोंकी वृतिके स्वार्थी अंशको आघात पहुँच चुका था। और इससे उल्टा उपनिषद्के रहस्योंसे समाजके बुद्धिमान और प्रगतिशील विभागपर उत्तम असर हुआ था जिससे बहुत समय तक यज्ञादिक क्रियाकाडका जोर प्रवर्तित नहीं रह सका। समाजका लक्ष प्राकृतिके सत्वोंको खास करके संतुष्ट रखनेसे पर लौकिक जीवन और आत्माके स्वरूपके सम्बन्धमें बहुत आवेगपूर्वक आकर्षित हो चुका था तो भी यह स्थिति बहुत समय तक टिक नहीं सकी। करीब ३०० सौ चारसौ वर्ष उसका असर न्यूनाधिक रहा परन्तु महावीर देवके आविर्भाव कालमें पूरे सत्व फिर शतामें जोरसे आ गये लोगोंकी रुचि तात्विक विभागपरसे कम हो गई। धर्मगुरू रिश्वत लेकर स्वर्ग और मोक्ष तकका पटा देनेकी धृष्टता

करने लगे। शास्त्राभ्यास अथवा स्वतंत्र विचारके लिये ब्राह्मणोंके सिवाय किसीको अधिकार नहीं था। यज्ञादिक कर्मके अधिकारके लिये ब्राह्मणों, क्षत्रिय और वैश्योंके बीचमें बहुत लडाई हुआ करती थी। आचार विचारके नियामक सूत्रोंमेंसे अर्थ उडा दिये गये थे और खाली शब्दही नामावशेष रह गया था। समयके बदलनेके साथ आचार भी बदल गये और आचार कांड बदबूदार पानीके नालेके जैसा हो गया। आत्मा गये पश्चात् शेष रहे हुए पींजरके समान स्थिति प्रत्येक स्थान पर थी मतलब यह है कि उन्नतिशील और प्रगतिशीलके चक्र पुराने विचारके कीचडमें इतने गहरे चले गये थे कि उनको सडकपर चलती स्थितिमे रखनेके लिये एक वीर आत्माके अवतरणकी चारों ओर आशा युक्त राह देखी जाती थी।

महावीर प्रभुके आर्विभाव कालमें जैसी स्थिति थी उसका वर्णन मी० दत्त इस तरह देते हैं.—

Such was the state of things in India, in the sixth century before Christ Religion in its true sense had been replaced by forms. Excellent social and moral rules were disfigured by the unhealthy distinctions of caste, by exclusive previledges for Brahmins, by cruel laws for Sudras Such exclusive caste previledges did not help to improve the Brahmans themselves. As a community they became grasping and covetous, ignorant and pretentious until Brahman Sutrakaras themselves had to censure the abuse in the strongest terms. For the

Sudras, who had come under the shelter of the Aryan religion, there was no religious instruction, no religious observance, no social respect. Despised and degraded in the community in which they lived, they sighed for a change and the invidious distinction became unbearable as they increased in number, pursued various useful industries, owned lands and villages and gained in influence and power. Thus society, was held in cast-iron moved which it had long out grown, and the social, religious and legal literature of the day still proclaimed and upheld the cruel injustice against the Sudra, long after the Sudra had become civilized and industrious, and a worthy member of society

अर्थात्–२५०० वर्ष पहिले आर्यवर्त्तकी स्थिति ऐसी थी कि धर्मकी यथार्थ भावनाका नाश होचुका था और उसका स्थान अर्थ-हीन आचार विचारने ले रखा था। उत्तम समाजिक और नैतिक नियम, दुष्ट ज्ञाति भेदसे और ब्राह्मणोंके लिये खास हक और शुद्रोके लिये घातकी धाराओंसे विक्षत थे ऐसे ज्ञातिजन्य विशेष अधिकारसे उल्टी ब्राह्मणोंकी स्थिति बिगडने लगी। सारे समाज पर वे इतने लोभी और लालची अज्ञान और अभिमानी बन गये कि ब्राह्मण सूत्रकारोंको भी इस वस्तुस्थितिको बहुत सख्त भाषामें दर्शाना पडा था। शुद्रों जिन्होंने कि आर्यधर्मकी छत्रछायाके नीचे आश्रय लिया था उनके लिये धार्मिक शिक्षण और व्रत

क्रियाका निषेध था। सामाजिक सन्मान उनके लिये बिल्कुल नहीं था। जिस समाजमें वे बसते थे उसमें उनकी तरफसे तिरस्कार और धिक्कार उत्तरोत्तर प्राप्त होने पर वे कुछ परिवर्त्तनके लिये आतुरतासे राह देखते थे। ज्यों २ उनकी संख्या बढने लगी। उपयोगी हुन्नर उद्योगमें वे प्रविष्ट होते गये, जमीन और गावोंके मालिक बनते गये और अपना प्रभाव और सत्ता विस्तारित करने लगे। त्यों २ ऐसी द्वेष युक्त ज्ञाति भिन्नता उनको असह्य मालूम होती गई। इसतरह समाज वज्र तुल्य खोखेमें गोते खा रहा था। शूद्र सभ्यता और उद्योगमें आगे बढते जाते थे और समाजमें सभ्यके लायके थे परन्तु उस समयका समाजिक, धार्मिके और कायदा सम्बन्धी साहित्य उनके प्रति अधम और अन्याय ही बर्त्त रहा था।

उन्नतिके इन अवरोधक कारणोंको दूर करनेके लिये एक प्रबल शक्तिमान वीर आत्माके प्रादुर्भावकी जरूरत थी। बहुत समयसे एकत्रित मैलेके ढेरको झाडे विना समाज जरा भी आगे नहीं बढ सकता था। जीवनके आर्थिक अंशोको मूर्च्छावस्थामेंसे वापिस चेतन करनेके लिये एक जीवनप्रद अमीह प्रवाहकी आवश्यक्ता थी उस समय जीवन व्यवहार बिल्कुल प्राकृत कोटीका होगया था और लोगोके हृदयजल ठंडे होगये थे अतएव पारमार्थिक वेग शिथिल होचुका था। क्रिया रूढी और अर्थहीन मंतव्योके प्राबल्यसे सामाजिक जीवनमें एकमार्गीयत्व व्याप्त होगया था। लोग हृदयकी मुर्झाइ हुई उच्च वृत्तियोको पुनः प्रफुल्लित करनेके लिये वृष्टीकी राह आतुरतापूर्वक देखी जाती थी। धर्मभावनाके नाशके साथ प्रजाजीवनकी समस्त भावनाओंको आघात पहुंचा था। इन सब

अंतरायोंको तोडनेके लिये एक विशिष्ट शक्तिका परिस्फोटन होना जरूरी था।

इस विकट विषयमें साहित्य सम्राट् डॉ. रवींद्रनाथ टागोर कहते हैं –[1] Mahavir proclaimed in India the message of salvation that religion is a reality and not a mere social convention that salvation comes from taking refuge in that true religion, and not from observing the external ceremonies of the community,–that religion can not regard any barrier between man and man as an eternal verity. Wondrous to relate, this teaching rapidly overtopped the barriers of the race's abiding instinct and conquered the whole country For a long period now the influence of Kshatriya teachers completely suppressed the Brahmin power.

अर्थात्–महावीरने डींडीम् नादसे हिन्दमें ऐसा संदेश फैलाया कि धर्म यह मात्र सामाजिक रूढी नही परन्तु वास्तविक सत्य है। मोक्ष यह बाहिरी क्रियाकांड पालनेसे नहीं मिलता परन्तु सत्य धर्म स्वरूपमें आश्रय लेनेसे ही प्राप्त होता है और धर्ममें मनुष्य और मनुष्यमें कोई स्थायी भेद नही रह सकता। कहते आश्चर्य पैदा होता है कि इस शिक्षणने समाजके हृदयमें जड़ करके बैठी हुई भावनारूपी विघ्नोको त्वरासे भेद दिये और देशको वशीभूत कर लिया इसके पश्चात् बहुत समय तक इन क्षत्रीय उपदेशकोंके प्रभावबलसे ब्राह्मणोंकी सत्ता अभिभूत होगई थी।

प्रभुने देशकी सादी भाषामें ही देशना दी और सत्यके प्रभावको सहजमें ही जनहृदयमें अंकित किया और आत्मधर्मके स्वरूपको उसके गौरव स्थानपर प्रतिष्ठीत किया लोगोंको बहुत समयके मोह निद्रामेंसे जगाये। प्रभु यह अच्छी तरहसे जानते थे कि समाजपर सच्ची असर ब्राह्मणोद्वारा ही हो सकेगी कारण कि उस जमानेमें उनका जोर प्रबल था इससे उन्होंने अपने प्रभावका प्रथम उपयोग उस समयके मुख्य और विद्वान ब्राह्मणोको अपने पक्षमें लेनेके लिये किया। जैन ग्रन्थोमें इन्द्रभूति अग्निभूति आदि सुविख्यात अगीयारे ब्राह्मणोने प्रभुके आगे दीक्षा लेनेके जो हकीकत अस्तव्यस्त आकारमे आजतक मौजूद है वह इसी बातका समर्थन करती है कि प्रभुने सबसे प्रथम उन ब्राह्मणोको अपने पक्षमें लेनेका उद्योग किया कि जिनके द्वारा समाजकी प्रगति अवरोधक हुई थी। प्रभुके अगीयारो गणधर पहिले क्रियाकांडी ब्राह्मण थे और प्रभुके उपदेशसे अनुरंजित होकर अपने शिष्य समुदाय सहित वे प्रभुके शरणमें आगये।

उसके बाद बहुत समय तक प्रभुद्वारा प्रवर्त्तित शासन विजयवंत रहा। उन्होने मुक्तिका अधिकार मनुष्य मात्रके लिये बरोबर हकसे स्थापित किया। पुरुषों और स्त्रियोंके लिये सुमर्यादित सुघटित और उत्तम व्यवस्था पुरसर मठोकी स्थापना की और लोगोंमें राग द्वेष स्वच्छन्दसे न हो सके उसके लिये विकट आचार मार्गकी घटनाएं घटित की थी।

प्रभुके उपदेश स्वरूपकी मिमांसामें उतरना हमने योग्य नहीं समझा तो भी हमे यह कहना पड़ेगा कि उस समयमें उन्होंने दो

बातोपर अधिक भार दिया जिनका असर समाजपर दृढ़तासे विस्तारित हो गया (१) प्राणी मात्रको जीनेका एक बरोबर हक्क है इसलिये जीवको जीने दो (Live and Let Live) का सिद्धान्त और स्वके कल्याणके लिये कोई दूसरी बाहिरी शक्तिपर अथवा उसके प्रसाद (favour) पर आधार तथा अपेक्षाको न रखते स्वशक्तिके अवलम्बन करनेका सिद्धान्त। उस युगमें इन दो सत्योंके प्रकाशकी अत्यन्त आवश्यक्ता थी जो कि ये सत्य बिल्कुल सादे हैं और एक बालकसे भी अज्ञात नही है और सबको विदित हैं तो भी जब उन सद्भावनाओका लोप होनेवाला होता है तब सम्पूर्ण देश अथवा सम्पूर्ण जगत्को अक्सर उसका एक साथ विस्मरण हो जाता है और अथवा वह दूसरी विरोधी भावनाओकी सत्तासे दब जाता है उस समय भी ऐसा हाल हुआ था। लोगोंने आत्मकल्याणके मुख्य निश्चयकी अवगणना की थी। लोग स्वहित साधनेके लिये छोटेसे बडे असंख्य देवदेवियोंको संतुष्ट रखनेके लिये प्राणीहिंसायुक्त यज्ञ यगादिकोंके भ्रमजालमें पड गये थे। इस हिंसा प्रधान धर्मके नामसे चलती क्रियाओंके सामने महावीर प्रभुने सख्त विरोध किया और जीवदयाका सिद्धान्त फैलाया जिसके लिये अनन्त मुगे प्राणी अपने मुक वाणीमें आज भी उन प्रभुका उपकार गाते हैं।

अनुवादककी भूमिका।

यह प्रस्तुत पुस्तक गुजराती भाषाके प्रसिद्ध लेखक श्रीयुत् सुशीलकृत महावीर जीवन विस्तारका स्वतंत्र हिन्दी अनुवाद है और इनसे हमारे समाजका प्रत्येक व्यक्ति परिचित है। आपकी जन्मभूमि काठीयावाडमें है और आप गुजराती भाषाके अच्छे लेखक हैं आपने कई पुस्तकें गुजरातीमें लिखी हैं।

यह पुस्तक अच्छी शैलीसे लिखी गई है और प्रभुके जीवनकी हरएक घटना पर सारगर्भित विवेचन किया गया है इतना ही नहीं परन्तु सर्व घटनाओंके मर्मको साफ दिखा दिया है। इसमें जो विषय और घटनाएं ली गई है वे उत्तमतासे प्रदर्शित की गई हैं कि पढते समय उस घटनाका चित्रसा सामने खड़ा हो जाता है। यह असंभव है कि प्रभुके कष्टोंके वर्णनको पढकर पढ़नेवालोंके नेत्रोसे अश्रुजलकी धारा न बह निकले। इसके पढनेसे पाषाण हृदय भी पीगलकर मोमसा हो जायगा।

इस परसे पाठकगण अनुमान कर सकते हैं कि ऐसी उत्तम पुस्तकको हिन्दी भाषामें प्रकाशित करनेकी कितनी आवश्यकता थी। इस आवश्यकताकी पूर्तिके अर्थ मैंने इसका हिन्दी अनुवाद तैयार किया है। यदि हिन्दी और हिन्दी भाषाभाषी मनुष्योंकी इस पुस्तकसे कुछ लाभ पहुँचा तो मैं अपने श्रमको सफल समझूँगा।

आबूरोड
ता० १९–१–१८ } ताराचंद्र दोसी।

अर्पण पत्रिका।

पूज्यपाद श्रीमद् गणाधीश्वर त्रिलोक्यसागरजी महाराज।

आपश्रीने हिन्दी साहित्यकी जो सेवा की है। और वर्षों तक मरुधर देशमें विहार करके आपश्रीने जैन हिन्दी साहित्यको उन्नतदशापर लानेके लिये अनेक प्रयास किये थे। इतना ही नही परन्तु आप स्वयम् उपदेश भी हिन्दीमें ही देते थे। अलावा इसके आप अनेक तकलिफोंको सहन करके मरुधर देशका उद्धार करनेके लिये इसी देशमें सतत् विहार करते थे। यद्यपि इस समय आपश्री द्रव्यरूपसे इस संसारमें विद्यमान नहीं है परन्तु भावरूपमें आपश्री मरुधर देशवासियोंके हृदयमे विद्यमान रहेंगे। इन्ही गुणोंसे आकर्षित होकर 'महावीर जीवन विस्तार' नामक पुस्तक आपश्रीके करकमलोमें समर्पण करते हैं।

चरणोपासक—

कार्यकर्त्तागण हिन्दी संवर्द्धिनी समिति

और

श्री ज्ञानप्रसारकमंडल, सिरोही।



पूज्यपाद श्रीमद्गणाधीश्वर त्रिलोक्यसागरजी महाराज।

जन्म वि० १९५८ } जैसलमेर

{ मृत्यु वि० १९७४ लोहावट मारवाड़.

'जैन विजय' प्रेस सूरत, ।

श्रीमहावीर जीवन-विस्तार।

इस शासन चक्रके कि जिसने महायोगीके योग सामर्थ्यकी प्रारम्भिक प्रेरणाओंसे अपनी गति प्राप्त की है; जो चौबीस-सौ वर्षसे बराबर अनेक भाग्यशाली जीवोंके उद्धारका निमित्त हुआ है; और जो अनेक जीवोंको श्रद्धा, शान्ति और आश्वासन दिला रहा है और भविष्यमें भी अपनी गतिके अवशेष वेग तक अनेक जीवोंको परम पद मार्ग प्रदर्शन कराता रहेगा उसके आद्य द्रष्टा परमयोगी सिद्धार्थकुल मुकुट श्री महावीर प्रभुको इस कार्यके आरंभमें त्रिकरण योगसे साष्टांग प्रणति परंपरा समर्पण करता हूँ।

प्रायः देखा गया है कि महापुरुषोंके जन्मके सम्बन्धमें उनके अनुयायी लोग पीछेसे कई अश्रद्धेय बातें मिला देते हैं। जिससे क्राइस्ट, कृष्ण, महावीर इत्यादि धर्म प्रवर्त्तकोंके जन्मकी बातोंके आसपास उनके भक्तोंने श्रद्धाके वशीभूत होकर एक ऐसा अद्भुत वातावरण खड़ा कर दिया है कि जिसको यह बुद्धिवादका जमाना कभी सत्य माननेको तैयार नहीं है। जिसके लिये लिखा है कि वह मेरी नामकी कुंवारी लड़कीके पेटसे पैदा हुआ था। जन्मके साथ कृष्णका शरीर दैवी सहायसे ऐसे स्थानमें पहुँचा दिया गया था, कि जहां पक्षीका प्रवेश भी असंभव था। इसी तरह महावीर स्वामीके सम्बन्धमें भी शास्त्रोंमें लिखा है कि, देवानंदा ब्राह्मणीके उदरमेंसे महावीरके गर्भ-शरीरको हरिणगमेषी नामक देवताके द्वारा हरण करवाकर सौधर्मेन्द्रने इक्ष्वाकुवंशी सिद्धार्थ राजाकी

महाराणी त्रिशलादेवीके गर्भमें और त्रिशलादेवीके गर्भको देवानंदाके गर्भमें स्थापन करवाया था।

ऐसे अलौकिक व्यतिकरोंको सिद्ध करनेका प्रत्यन करना, अथवा विज्ञानिक युगमें यह कहनेकी हिम्मत करना कि ऐसा हो सकता है, बुद्धिमानीका कार्य नहीं है। जिस बातको मनुष्यकी बुद्धि असंभव और संभवनीयताके प्रदेशसे बाहिर गिननी है, उस बातको केवल श्रद्धा और शास्त्रोंके वाक्योंपर आधार रखकर दूसरेके मगजमें जबर्दस्ती ठसानेका प्रयत्न करना बिल्कुल अनुचित है। तथापि जो लोग असामान्य और दैवी सत्ताके कार्योंमें श्रद्धा रखते हैं; वे भी उक्त गर्भान्तरकी घटनासे एक महत्त्वकी बात सीख सकते हैं। और वह यह है कि महावीर प्रभुके जीवने मरीचिके जन्ममें कुलाभिमान किया था। इसलिये उन्हें भिक्षुकके घर गर्भमें आकर रहना पडा था। जबसे मद, अहमन्यता, अभिमान आदि किसी भी मनुष्यके हृदयमें उत्पन्न होने लगते हैं तब हीसे उस मनुष्यकी आत्मा अपने उच्च स्थानसे गिरकर निकृष्ट स्थितिमें पहुँचनेके साधन उपार्जन करने लग जाती है। कार्यके साथ उसका फल प्रयत्नके साथ उसका परिणाम आघातके साथ उसका प्रत्याघात और भावनाके साथ उसका बदला सदा लगे ही रहते हैं। आत्मा गर्वोन्मत्त हो अपनेसे निकृष्ट स्थितिका तिरस्कार करती है क्योंकि गर्भके साथ हमेशा तिरस्कार रहता है उसका तिरस्कार ही तबसे तिरस्कृत्य स्थितिमें लेजानेका कारण बन जाता है। जिन स्थितियोंको पार करके मनुष्य आगे बढा है, उन स्थितियोंसे घृणा करना सर्वथा अनुचित है इसी तरह जिन उच्च स्थितियोंका वह स्वयम् भोक्ता है, उनसे

मत्त होजाना भी उसके अयोग्य है। घमंडी मनुष्य कभी उन्नतिके मार्गमें आगे नहीं बढ़ सकता। क्योंकि वह अपनी वर्त्तमान स्थितिमें ही संतुष्ट रहता है और अपनेसे निम्न स्थितिवालोंके प्रति वह द्वेष और घृणाके भाव पोषण करता है। इसका कारण यह है कि वह इन्हीं निम्न स्थितियोंमें स्वयम्‌की कल्पनाकर बड़े दुःख और असंमजसका अनुभव करता है। इस प्रकार अहंकारी मनुष्य तिल मात्र भी आगे नहीं बढ़ता, इतना ही नहीं परन्तु कर्मकी जबर्दस्त सत्ता उसको अपने असली स्थानसे ढकेलकर उसी तिरस्कृत्य स्थितिमें ला पटकती है। महावीर प्रभुके विषयमें भी ऐसा ही हुआ था। "तीर्थङ्कर" के समान अत्यन्त प्रभावशाली नाम कर्मकी प्रकृतिका बंध करने पर भी अभिमानका फल कर्म फलदात्री सत्ता उन्हें दिये बिना नहीं रही इसहीसे पहिले उनका एक दरिद्री कुटुम्बकी ब्राह्मणीके गर्भमें चवन हुआ था। अहंकार बड़ेसे बड़े महात्माओंको कैसे फल चखाता है उसका यह एक ज्वलन्त तथा सुबोधमय उदाहरण है।

प्रभुका जन्म हुआ। जन्म कल्याणकका उत्सव मनानेके लिये सौधर्मेन्द्र प्रभुको मेरु पर्वत पर लेगया। अन्य त्रेसठ इन्द्र भी उनको स्नान करानेके लिये वहां उपस्थित हुए थे। जिस समय तीर्थके सुगंधित जलसे प्रभुका अभिषेक करनेकी तैयारी हो रही थी। उस समय सौधर्मेन्द्रको शंका हुई कि प्रभुका बाल-शरीर जलकी इन विपुल धाराओंके प्रभावको कैसे सह सकेगा। अव्याबाध इन्द्रिय सुखका भोक्ता इन्द्र उस समय शक्तिके वास्तविक प्रभवस्थानको भूल गया। उसको उस समय केवल यही

विचार आया कि शक्तिका अवलम्ब मात्र हाड, मांस और चर्म ही है। जिन आत्माओंको केवल स्थूल सृष्टिका ही सतत परिचय है और जिनका अन्य भूमियोंसे—सूक्ष्म स्थितियोंसे—कोई सम्बन्ध नहीं है उनको ऐसी शङ्काएँ उत्पन्न हो यह एक स्वाभाविक बात है। यद्यपि इन्द्र अवधिज्ञानके द्वारा प्रभुके अतुल सामर्थ्यको भली भांति जानता था; परन्तु भक्ति—बाहुल्य—मुग्ध इन्द्र उस समय सब कुछ भूल गया, और उसके हृदयमें उक्त शङ्का उत्पन्न हुई। नित्यके समागमकी और प्रतिक्षण दृष्टिपथमें आनेवाले अनुभवकी शक्ति इतनी प्रबल होती है कि प्रत्यक्ष प्रमाणमें उद्भवित श्रद्धाको भी क्षणभरके लिये भुला देती है।

प्रभुने अपने ज्ञानशक्तिसे इन्द्रके उक्त हृदय भावोंको देखे; उसे अपने अद्भुत सामर्थ्यका भान करानेके लिये अपने बायें पैरके अंगुठेसे मेरु गिरिको दबाया। तत्काल ही मेरुशिखर हिलने लगे। वसुधरा भार झेलनेको असमर्थ हो इस प्रकार काँपने लगी और चारोतरफ एक उत्पात सा मच गया। प्रभुने अपने आत्मस्थितिसे एक अंशको स्फुटित करके इन्द्रको समझा दिया कि सामर्थ्यका आधार हाड़ माँसकी थैली नहीं है, बल्कि अन्तरात्मा है। जिसकी दृष्टि मर्यादा स्थूल शरीरमें ही परिसमाप्त होती है। प्राकृत मति आत्माके इस स्वभावको कैसे समझ सकती है विकास क्रमके उच्चतम शिखरपर पहुँचे हुए आत्माका नैसर्गिक सामर्थ्य कैसा अद्भुत होता है, उसका उदाहरण प्रभुने अपने जन्मके बाद ही इसतरहसे बता दिया। प्रभुका यह कार्य अपनी शक्तिसे दूसरोंको अजित करनेके लिये नहीं था; प्रत्युत लोगोंको आत्माकी अद्भुत शक्तिका

भान करानेके लिये तथा यह दिखानेके लिये था कि प्रत्येक आत्मामें ऐसी ही अलौकिक शक्ति है। सामान्य जीवोंको स्थूलोद्भवित शक्तिके सिवाय अन्य शक्तिमें श्रद्धा नहीं होती है, और इसलिये प्रसंगपर महात्माओंको आत्मशक्तिका प्रभाव दिखाना पड़ता है और इसके अनेक उदाहरण भी मौजूद हैं। पौराणिक कथा प्रसिद्ध है कि महात्मा कृष्णने अपनी एक अंगुली पर गोवर्द्धन पर्वतको उठा लिया था। आत्माकी शक्तिके अनंतपनेमें जिसको श्रद्धा है वे ऐसे व्यतिकरोंको कभी असंभव नहीं मानेंगे। इस कालमें भी आत्मशक्तिके अनेक प्रभावोत्पादक घटनाएँ घटित हुई हैं जिनसे पाठक परिचित होंगे।

पुण्यशाली आत्माके प्रादुर्भूत होने पर सर्वत्र आनंद मङ्गल ही दिखाई देने लगता है। उसी प्रकार प्रभुके जन्मके बाद सिद्धार्थकी समृद्धिमें असाधारण वृद्धि होने लगी। प्रभुके पुण्य प्रभावसे नगरमें, देशमें, और हर घरमें प्रसन्नताका प्रचार हो गया। प्रत्येक मनुष्यके हृदयसे आनंदके फुव्वारे छूटने लगे। प्रभुके पुनीत पदारविन्दसे इस प्रकार सर्वत्र सुख समृद्धिकी वृद्धि हुई इसलिये उनका वर्द्धमान नाम रक्खा गया। भगवानकी बाल्य लीला भी बहुत ही बोधदायक थी। उनकी आत्माका जो प्रभाव भाविमें अनेक प्राणियोंको कल्याण करनेके लिये निर्मित हुआ था वह प्रभाव उनके क्रीडा कालमें भी दिखाई देता था।

मातापिताके स्नेहसुधासे पालित पोषित हो कर क्रमशः ! प्रभुने यौवनावस्था प्राप्त की। प्रभुके बाल्य कालसे तबतक की कई चमत्कारिक घटनाओंके द्वारा मातापिताको जो सुलभ प्रेम

भावना होती है, उसीसे आकर्षित होकर उन्होंने प्रभुके विवाहका प्रबन्ध करना प्रारंभ किया। यौवनावस्था, धन-धान्यकी विपुलता, यथेच्छा भोग प्राप्तिकी सुलभता और उत्कृष्ट रूप तथा प्रभुत्व आदि और विषयविकारोत्पत्ति आदिकी सामग्रियोंके होते हुए भी भाग्यशाली वीरके हृदयमें विकारका स्पर्श मात्र भी नहीं हुआ था। उनके एक२ रोममें भोग भोगनेकी वासना अवशेष नहीं रही थी। परन्तु पुत्र-वत्सल माताका जो कि प्रभुको विवाहितकर अपनी स्नेह तृप्ति कर-नेको बड़ी आतुर थी-प्रभुने कुछ विरोध नहीं किया। विरोध करके अपने मातापिताके स्नेही हृदयको दु:खाना उन्होंने अनुचित समझा। यह सोचकर प्रभुने माताके वचनोंको सहर्ष स्वीकार किया। तीर्थङ्करोंका हरएक कार्य आदर्श उदाहरण स्वरूप होता है और यदि मैं मातृ आज्ञाकी अवहेलना करूँगा तो उक्त नियमका भंग होगा। देवीने प्रभुसे कहा " नंदन तुम हमारे आंगनमें आये हो इससे हम अपने भाग्यको सराहते हैं, तुम्हारा हमारे यहाँ अवतीर्ण होना हम हमारे पूर्व भवके महान् पुण्यका विपाक सम-झते हैं जिनके दर्शनोंकी इन्द्रादि देवताओंको भी सतत इच्छा रहती है ऐसे तुम हमारे यहांपर उत्पन्न हुए, यह सौभाग्य हमारा सचमुच ही अद्वितीय है। हम जानते हैं कि आपका निर्माण तीनों लोकोंको स्वातंत्र्य और मोक्षादिका मार्ग दिखानेके लिये हुआ है और आपका यह निवास तो मात्र हमें अपनी क्रीड़ा दिखानेके लिये ही है। तथापि हमारी स्नेहाद्रि हृदय पुत्र प्राप्तिकी भावनाका परित्याग करनेमें असमर्थ है। अतः अन्य किसी हेतुके लिये नहीं परन्तु हमें प्रसन्न रखनेके लिये ही हमारे विवाहके

आग्रहको स्वीकार करो।" दयामय प्रभुने माताकी इस स्नेह भावनाको मान देकर विवाह करनेकी हामी भरी। देवीने प्रसन्न होकर यशोदा नामकी राजपुत्रीके साथ उनका विवाह कर दिया। माता पिताको इस जोड़ेके दर्शनसे परम संतोष हुआ यद्यपि शरीरसे प्रभु गृहस्थी एवं संसारी थे परन्तु उनका हृदय सदा जंगलकी ओर रहता था। उदासीन और अरस्थ भावसे वे उदयमान भोगका निर्वहन करते थे। जिन महात्माओंका हृदय भोग और योग इन दोनों अवस्थाओंमें मध्यस्थ रह सकता है उनका वैराग्य संसारके प्रति द्वेषसे अथवा निराशासे उद्भवित नहीं होता। परन्तु वह स्थितिके यथार्थ दर्शनमेंसे उत्पन्न होता है व इस संसारमें (वस्तु) जल कमलवत् अलिप्त भावसे रहते हैं। उदयमान कर्म प्रकृतियोंके भोगोंको शान्तिसे सहन कर उनकी निर्जरा करना और रागद्वेषके उत्तेजक कारणोंसे परिवेष्ठित रहने पर भी स्थित प्रज्ञ रहना ऐसे ही महात्माओंके कठिन वृत होते हैं। प्रभु भी अपने लग्नकी अवस्था इस तरहसे विताते थे। लग्नके फलरूप उन्हे प्रियदर्शना नामकी पुत्री जिसका विवाह योग्य वयमें जमाली राजकुमारके साथ हुआ था।

अठाईस वर्षकी आयुमें प्रभुके मातापिताका स्वर्गवास हो गया। संसारका संसारत्व द्रव्यके उत्पाद और व्ययमें ही समाया हुआ है। इस बातको अच्छी तरह समझनेवाले वर्द्धमान प्रभु इस खेदजनक प्रसंगसे व्याकुल न होकर अपने बड़े भाई नंदीवर्द्धनको इस संसारकी विनश्वरताका आश्वासन दिया। नंदीवर्द्धनने वीर प्रभुका राजमुकट धारण करनेकी प्रार्थना की परन्तु प्रभुने उसे स्वीकार नहीं किया। तत्पश्चात् नंदीवर्द्धन राज्य सिंहासन पर बैठे। वीर प्रभुने उनसे

तब इस प्रकार प्रार्थना की कि " प्रिय बांधव मेरे गृहस्थावासकी स्थितिका अब अन्त आगया है इसलिये मुझे दीक्षा ग्रहण करनेकी आज्ञा दीजिये " अपने अनुजकी इस प्रार्थनाको सुनी । खेदसे गद्गदित होते हुए नंदीवर्द्धन बोले "भाई हमारे पिताका अवसान हुए अभी बहुत समय नहीं हुआ है । उनका शोक अभी ताजा ही है और जो ऐसे समयमें तुम्हारा वियोग भी हो जावेगा तो दुःखसे मेरा हृदय फट जायगा' करुणासागर वीरप्रभुको अपने बड़े भाईके दीन बचनों पर दया आई । उच्चकोटिके महापुरुष कोई भी कार्य चाहें व कितना ही विशुद्ध क्यों न हो परन्तु जिसके करनेसे दूसरोंको कष्ट उत्पन्न होता है वह कभी नहीं करते । और न ऐसा होना सहन ही कर सकते हैं । बहुतसे प्रसङ्गोंपर तो यह कष्ट रागांधतासे प्रकट होता है । इन अज्ञानजन्य भावोंकी तृप्तिके लिये प्रत्येक प्रसङ्ग पर रुकना तो असंभवसा है फिर भी अपने आदर्श जीवनमें किसीको न तो कष्टका प्रसङ्ग देते हैं और न उसके निमित्त कारण आप ही होते हैं । दूसरोंकी अज्ञान वासनाओंको हर तरह निभानेका कार्य मात्र उत्कृष्ट कोटिके महात्माओंसे ही बन सकता है । सामान्य ज्ञानी ऐसे वृती नहीं होसकते और न उनके लिये यह वस्तु योग्य भी है अपने शत्रु और कल्याणकारी उद्देशको छोड़कर जगत्की मोहजन्य वासनाओंको तृप्त करनेके लिये बैठे रहनेसे ही स्वपरका श्रेय सिद्ध नहीं होता । इन वासनाओंका प्रत्याघात ऐसी अवज्ञा करनेवाले पर नहीं होता । क्योंकि अज्ञान और उसके समपरिणाम ज्ञान और ज्ञानीके परिणामोंके साथ संघटनमें आते ही प्रकाशसे अन्धकारकी भांति नष्ट होजाते

हैं। सामान्य कोटिके मनुष्योंको अपनी शुभ भावनाके तदानुसार चारित्रके भोगसे समाज अथवा अपने सम्बन्धियोंकी अज्ञानजन्य भावनाओंको वीर प्रभुकी भांति तृप्ति देना योग्य नहीं है। क्योंकि इसका अनुकरण मनुष्यजगत्की अज्ञानताको जो पहिलेसे ही अधिक प्रमाणमें है सहायता एवम् वृद्धि मिलती है और अपनी शुभ भावनाओंको इस प्रकार भटकती हुई छोड़ देनेसे व हमारे विपरीत वर्त्तनके कारण शुभके प्रमाणमें अशुभ एवम् निकृष्ट बन जाती है। वीरप्रभुने जो अपने बड़े भाईकी मोहजन्य याचनाको स्वीकारा, वह उनके तीर्थङ्कर नाम कर्मके सर्वथा अनुभूत और योग्य था। परन्तु तीर्थङ्कर सिवाय अन्य आत्माओंके लिये ऐसा वर्त्तन योग्य नहीं गिना जाता। एक अज्ञानजन्य याचनाका स्वीकार ही ऐसी अनेक याचनाओंको हमारे पीछे २ खिंच लाता है, और आखिरमें ऐसा अवसर आन पहुंचता है कि आत्मा पहिलेकी विशुद्धिको खो बैठता है। अनन्तकालसे रागके पाशमें बंधा हुआ यह भोगी आत्मा अपने पुराने साथियोंमें फिरसे रचलेने लग जाता है और कालान्तरमें अपने सद्गुणोंसे भृष्ट होकर भोग ही का कीड़ा बन जीवन निर्गमन करता है।

बड़े भाईकी प्रार्थनाको मान देकर वीरप्रभु और दो वर्ष तक गृहस्थावासमें रहे। स्वयम् ज्ञानकी उच्च कलामें विराजमान थे और किसी भी प्रकारसे भ्रष्ट होनेकी संभावना नहीं थी तो भी अन्य जीवोंको दृष्टान्तमय होनेके लिये प्रभु उत्कृष्ट गृहस्थीके आचारोंका पालन करते थे। कायोत्सर्ग, ब्रह्मचर्य, परशीलन, विशुद्धध्यानकी तत्परता केवल प्राण निर्वाहार्थ प्रासुक अचाक आहार आदि आ-

चार पालन करते थे। ऐसे उत्कृष्ट ज्ञानी होनेपर भी आचारका त्याग उन्होंने गृहस्थावासमें नहीं किया था। " जब चाहे तब ऐसा कर सकते हैं इस निर्बल विचारका प्रस्फुटन भी उनके हृदयमें नहीं हुआ था "। प्रसंग आनेपर करेंगे ऐसी भावना केवल कायर पुरुषोंके हृदयमें ही हुआ करती है। वीर पुरुष एक क्षणभर भी कार्य करनेमें विलम्ब नहीं करते। भाईकी प्रार्थनाको मान्य रखनेके लिये प्रभुने दीक्षा गृहण करनेका विचार और दो वर्षके लिये स्थगित कर दिया। परन्तु भावसे वे एक रोममें भी अदीक्षित नहीं थे। गृहस्थ पर्यायकी जो स्थिति उपार्जन की थी, केवल उसहीको उदासीन भावसे बिना कर्म आश्रव किये वर्त्तन करते थे। ज्ञानीमनोंको दोनों प्रकारके शाता और अशाता वेदनीयमें वेदनपना ही मालूम होता है। उन्हें एकके प्रति राग दूसरेके प्रति द्वेष नहीं होता। शारीरिक दुःख और सुख ये दोनों ही स्थितियाँ उन्हे समान दुःखप्रद मालूम पड़ती हैं क्योंकि दोनों हीमें आत्माको मुझानेका तथा उसे अपने स्वाभाविक स्थानसे गिरादेनेकी शक्ति समान होती है। जो कुछ आत्माको आवृत करता है वह उनके मनको एक समान हानिकर जान पड़ता है। वे भावकी प्रबलताके तारतम्य अनुसार ही सुखकी हिम्मत अधिक और दुःख भार रूप मालूम होता है। परन्तु जिनका यह भाव नाश हो चुका है उनके लिये ये दोनों ही शारीरिक क्रियाएं आत्मा पर समान दबाव डालनेवाली मालूम होती हैं।

इसलिये प्रभु भाईकी याचनाको सफल करनेके लिये बारह महीने पर्यन्त और गहस्थावासमें रहे। इसके बाद उनका दीक्षा

पर्याय आरंभ हुआ। अपने सर्वाङ्ग सुन्दर शरीर पर वैरागीके योग्य पोशाक प्रभुने धारण करली। जो कोमल शरीर आज पर्यन्त राज्यकी विपुल समर्द्धियोंमें पोषित तथा परिवर्धित हुआ था और जिसको तृप्त सुवर्णसम ज्योतिर्मयताके गरम हवाका स्पर्श भी कभी नहीं होने पाया था। वही मनोहर प्रतिमा आजसे संयमकी कफनीसे याचादित हो गई। संसारके पाप धोनेके लिये प्रभुने समस्त पुण्य सामग्रीका त्याग कर दिया। जिस शरीर शोभाको पामरसे पामर जीव भी प्रिय गिनते हैं उसका प्रभुने केशोंके लोचसे नाश कर दिया। जिन भोगोंके क्षणिक वियोगसे ही यह संसारी आत्मा गहरे निश्वास छोड़ने लगता है महावीर प्रभुने उन्ही भोगोंको प्रसन्नता पूर्वक छोड दिया। सुशीला पत्नी यशोदा, प्रिय दुहिता प्रियदर्शना, छत्ररूप बडे भाई नंदीवर्द्धन, राज्यकी अतुल लक्ष्मी और आज्ञाकारी अनुचर इन सबका त्याग करते समय प्रभुको रंच मात्र भी खेद नहीं हुआ। राज्यकी समर्द्धिमें पोषण प्राप्त उनका कोमल शरीर संयमके कठिन कष्टोंको किस प्रकार सहन कर सकेगा ऐसा दैहिकभावयुक्त विचार उनको निर्बल कर अपने उद्देशसे नहीं हटा सका। कहाँ तो स्वार्थका रंच मात्र भी लोप हो जानेसे दुःख प्रकट करनेवाला यह पामर भीरु आत्मा और कहाँ बाह्य सम्पत्तिमेंसे अहम् भावको सर्वांश छोड़नेवाला अमोहशक्ति सम्पन्न वीर आत्मा!

संयोग और वियोग बादलोंके माफिक बंधते हैं और फिर बिखर जाते हैं इस बातको समझनेवाला महात्मा पुरुष संयोगकालमें कभी प्रसन्न नहीं होता और न उसके वियोगकालमें उस प्रसन्नताके प्रत्याघात रूप खिन्नता ही प्रकट करता है कि-

जिसका वियोग एक समय होनेवाला है उसका त्याग महात्माजनोंके हृदयमें उल्टी शान्ति देता है। क्योंकि ऐसा करनेमें वे मात्र भविष्यमें आनेवाली आपत्तियोंका परिहार उसी क्षणमें ही करते हैं।

जो देना है वह समय पर देना ही पड़ता है महापुरुष उसको शीघ्र देना शुरू कर उसके कर्जसे छूट जाते हैं। इस मिट्टीकी खोली पर चढ़े हुए पुद्गलका सुन्दर और मनोरम दीखनेवाला सुन्दर रंग उनकी दृष्टिको किसी प्रकार रागवश नहीं कर सकता।

प्रभुका दीक्षा महोत्सव देवो और मनुष्योने मिलकर मनाया था। चारित्र गृहण करने पर उन्हें मनःपर्याय ज्ञानकी प्राप्ति हुई थी। दीक्षा प्रश्चात् बारह वर्ष पर्यन्त प्रभुने ऐसे २ असह्य परीषहोंको कि जिसकी स्मृति मात्र ही कठिनसे कठिन हृदयोंको द्रवित कर देती है सहन किये थे। ज्यों २ आत्मा मुक्तिकी ओर बढता जाता है। त्यों २ संचित कर्मोंका उदय शीघ्र तथा तीव्रतर होता जाता है जिस प्रकार चलते हुए व्यापारको बंद करनेवाले व्यापारीसे उसके लेनदार तकाजा पर तकाजा लगा अपना लेना वसूल करने लगते हैं उसी प्रकार मोक्षाभिमुख आत्मासे उसके पूर्वोपार्जित कर्म एक साथ फल देकर अपना २ हिसाब चुकता करनेको तत्पर हो जाते हैं। मोक्ष पथ विहारी आत्माको अनेकबार असाधारण संकट उठाने पड़ते हैं। 'धर्मीके घर धाड' यह प्रचलित लोकोक्ति भी अनेकबार उनके जीवनमें चरितार्थ होती है इसका भी यही हेतु है। मोक्ष मार्गानुगा-

मियोंको अनेक संकट उठाने पड़ते हैं इसके अनेक ज्वलंत उदाहरण हम सुनते आये हैं और सदा सुनते हैं। बाल जीवोंके प्रबोधनार्थ अनेक उत्तम ग्रन्थकारोंने 'उपमिति भव प्रपंच कथा, मोह राजाका रास' आदि रूपक ग्रन्थोंकी रचना कर केवल यही सिद्ध किया है कि मुमुक्षुके मार्गमें मोह राजाके सुभट बराबर विघ्न पटकते ही रहते हैं, जिन दर्शनोंने ईश्वरको सृष्टिका कर्त्ता माना है वे भी इस बातको प्रभु अपने भक्तोंकी जांच करता है, इस रूपमें कहते हैं कोई इससे रक्तबीज और कोई Deweller on the threshlol कहते हैं। किम् बहुना परमात्माके महाराज्यकी ओर पर्यान करनेवावाले महात्मा ओंको संकटपर संकट उठाने पड़ते हैं। परन्तु जिन आत्मपर्याय पुरुषोंने देहके ममत्व भावका सर्वांश त्याग कर दिया है ये संकट जैसे हमारे प्राकृत दृष्टिको सत्य और गंभीर जान पडते हैं वैसे नहीं मालूम पड़ते। जिस स्थितिका ज्ञान हमें मात्र हमारे शास्त्रोंकी वाणीद्वारा ही होता है उसी स्थितिका ये महात्मा परोक्ष अनुभव करते हैं। देह और दैहिक धर्म इनका आत्माके साथ न कभी कुछ सम्बन्ध हुआ है न होता है और न होगा इस प्रकारका निश्चय उनके प्रत्येक रोम २ में व्याप्त रहता है इसलिये उन्हें इसमें लेशमात्र भी शंका नहीं रहती। जितने अंशमें दैहिक ममत्वभाव हममें बना रहता है उतने ही अंशमें उसके सुख दुःख हमारी आत्मापर अपना प्रभाव डालते हैं और यही कारण है कि शास्त्रकारोंने वेदनीय और मोहनीय कर्मकी प्रकृतिको भिन्न२ बताई हैं। जितने अंशमें मोहनीय कर्मकी प्रकृतिका प्राकट्य होता है उतने ही अंशमें वेदनीय कर्म आत्मा-

पर असर करते हैं। मोहनीय कर्मके शिथिल पड़जाने पर वेदनीय कर्म्म प्रायः नहींवत् हो जाते हैं। जिस प्रकार विशाल पटवाली परन्तु निर्जल सरिता मनुष्यको खींच बाहिर नहीं ले जा सकती उसी प्रकार तीव्रसे तीव्र वेदनीय कर्म प्रकृतिका उदय यदि वह मोहनीय कर्म्मरूपी नदीकी वेगवती विपुल धाराओंसे रहित हो तो आत्माको उत्क्रान्ति मार्गसे नीचे गिरानेमें शक्तिहीन है। उपरोक्त विवेचनसे हमारा यह कथन नहीं है कि ज्ञानीजनोंको कष्ट नहीं होता है परन्तु कहनेका तात्पर्य केवल इतना ही है कि उनका कष्ट उनकी अवशेष मोहनीय कर्म्म प्रकृतिके प्रभावमें ही होता है। सुख दुःखका मूल मोहनीय कर्म्म है और जितनी इसकी प्रबलता होती है आत्मा उतना ही सुख दुःख अनुभव करता है।

वीर प्रभुको दीक्षा कालमें जो२ कष्ट और आपत्तियें सहनी पडी हैं उनको भी हमें इस दृष्टिसे देखना चाहिये। प्रभुका मोहनीय कर्म क्षीणप्रायः होनेसे उन्हे शारीरिक कष्टोंमें उतनी आत्म वेदना नही होनी चाहिये कि जितनी हमारी विमुग्ध दृष्टि कल्पना कर सक्ती है। महात्माओंको ऐसे कष्ट किसी गिनतीमें नहीं होते। सबल और निर्बल प्राणिको एक ही प्रकारका प्रहार समान असरकारक नहीं होता वैसे ही ज्ञानी और अज्ञानियोंको एक प्रकारका संकट समान प्रभावोत्पादक नहीं होता। जैसे हाथीकी चौड़ी पीठमें मारी हुई लकड़ीकी चोट उसके किसी लेखेमें नहीं होती परन्तु वही लकड़ी की चोट एक क्षुद्र कुत्तेको मृतःप्राय कर डालती है। वैसे ही एक प्रकारका कष्ट विरक्त आत्माको यद्यपि अकिंचितकरसा होता है। परन्तु रक्त आत्माको तो धूलमें लौटाने जैसा बना देती है। वीर

प्रभुको जो महा वेदनाएँ उठानी पड़ी थीं वे जैसी हमें भयङ्कर तथा असत्य भासती हैं उन्हे वैसी न थी। इनकी सहिष्णुता अद्भुत थी। सच्चे क्षत्रियको रण संग्राममें लगे हुए तलवारके घाव काँटेके समान वेदना भी नहीं देते क्योंकि उसे उस समय यह देह किंचितवत् मालूम होता है। यदि उसे भी उस समय जितनी हम कल्पना करते हैं उतना कष्ट होता हो तो वह कभी इतनी शूरवीरताके कार्यमें प्रवृत हो नहीं सकता। हम कई वेर दूसरोंकी आपत्तियोंका अपनेमें आरोप कर अपने रागद्वेषानुसार उनमेंसे प्रकट होती हुई सुख दुःखकी लागनियोंका अनुभव करते हैं परन्तु इस प्रकार आरोप करते समय हम एक महत्वकी वात आरोप करना भूल जाते हैं। वह आपत्तिका आरोप जिसमें हम अपने आपकी कल्पना करते हैं उस व्यक्ति विशेषकी आत्म स्थितिका है उस स्थितिका लक्ष दिये बिना ही किया हुआ यह स्थूल आरोप हमें एक भारी भूलमें ला पटकता है, सत्यके एक आवश्यक अंगसे हमे वंचित रख देता है। वीरपरमात्माके कष्टकी कल्पना कर उसमेंसे निकलते हुए साररूप उनकी सहिष्णुताकी हम स्तुति करें उसके साथ हमे उनकी विरक्तता तथा उनके अगाध आत्मबलकी कल्पना करना भी नहीं भूलना चाहिये। उस सहिष्णुताके उत्पत्ति स्थानका जो विचार करना हम भूल जाय तो प्रभुके चरित्रमेंसे निकलता हुआ सार हमारे लिये अर्धोंध निष्फल चला जावेगा। आत्माके किसी उत्तम वर्त्तनकी स्तुति करनेके साथ यदि यह नहीं देखा जाय कि यह वर्त्तन आत्माके किस अंशमें उद्भवित हुआ है तो वह थू ज वर्तन हमें विशेष लाभप्रद नहीं होता। बाह्य वर्तनमें मात्र

इमें आश्चर्यान्वित करनेकी करामात होती है परन्तु उसके प्रथक स्थानका परिचय पानेसे वह आश्चर्य जो कि पहिले अद्भुत मालूम होता था नाश होकर उसके स्थानमें संभवनीय तथा बुद्धि गम्य हो जाता है। किमेषु अधिकम् प्रभुका अमोघ धैर्य, सहनशीलता, समभावशत्रु और मित्र प्रति समान दृष्टि सारे दीव्य गुण उनके आत्मा की विशुद्धतामेंसे प्रगट हुए थे।

दीक्षा लेनेके पश्चात् विहार करते २ प्रभु एकदा कुमार गांवके निकट पधारे वहां नासिका अग्र भाग पर अपनी दृष्टि जमा दोनों हाथ लम्बे कर स्थूल मूर्तिकी भांति कायोत्सर्ग ध्यानमें लीन हो गये ऐसे ही समयमें एक गोवाला अपने बैलोंको चराता हुआ वहाँ आ निकला और उन्हें प्रभुके सामने चरते हुए छोड़कर कारणवशात् घरको चला गया। उसके जाने पश्चात् वे बैल स्वच्छन्दतासे चरते २ बहुत दूर चले गये और इसलिये उस गोवालाके लौटने पर उसे वे वहां नहीं मिले। उसने घबराकर झटसे प्रभुसे उनका पत्ता पूछा परंतु ध्यानस्थ प्रभु उसे किस प्रकार उत्तर देते ? हताश हो वह उन्हे शोधनेको आगे बढ़ा इस बीचमें बेल चरते २ पीछे प्रभुके पास आकर बैठ गये। गोवाला ढूंढता २ फिर उधर ही आ निकला। आते ही सामने देखता क्या है कि उसके दोनों बैल प्रभुके पास बैठे हुए हैं। इस घटनासे अनेक संकल्प विकल्प बाद वह इस निश्चय पर आया कि इस साधुने मेरे बैलोंको चुरा ले जानेकी खोटी दानीशासे ही उस समय कहीं न कहीं छिपा रक्खे थे। बस फिर क्या था क्रोध रूपी पिशाचके फंदेमें पड़कर ध्यानस्थ प्रभुको मारनेको लपका। उसी समयमें

अपने अवधिज्ञान द्वारा प्रभुकी इस संकटमय दशाको प्रत्यक्ष देख, दौडता हुआ इन्द्र भी इस घटना स्थलपर आ उपस्थित हुआ और उस गोवालेको समझाया "मूढ यह तो महामुनि है। तेरे बैलों की इन्हें क्या आवश्यक्ता पडी है? इस अवस्थाके लिये अपनी विपुल राजलक्ष्मीको भी इन्होने छोड दिया।" इन्द्रके ऐसे निष्ट वचन सुनकर गोवाला शान्त हो अपने घर चल दिया। उसके जाने पश्चात् इन्द्रने भगवानसे प्रार्थना की कि हे नाथ! अभी बारह वर्ष पर्यन्त आपको सर्व उपसर्ग ही उपसर्ग होनेवाले हैं अस्तु आप कृपा कर आज्ञा दे कि यह दास उन्हें निवारण करनेके लिये निरन्तर आपके साथ रहे। भगवानने समाधि पाकर इन्द्रकी प्रार्थनाका जो उत्तर दिया वह उनकी मदमस्तावस्थाकी अद्भुत तन्मयताकी पूरी २ साक्षी देता है। कर्मके अटल सिद्धान्तको हस्तामलकवत् समझनेवाले प्रभुने उत्तर दिया कि हे इन्द्र? तीर्थङ्कर पर सहायकी अपेक्षा कभी नही रखते। अर्हन्तोको दूसरोकी सहायतासे कभी केवलज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसा न आज तक कभी हुआ है और न कभी होनेवाला है। आत्मा स्वशक्तिसे ही केवलज्ञान प्राप्त करता है और फिर मोक्षमे जाता है।

स्वार्थके लिये महापुरुष अपनी लब्धियो अथवा सिद्धियोंका कभी प्रयोग नहीं करते। क्योकि निकाचित कर्मोंको क्षय करनेमें वे कुछ भी उपयोगी नहीं होती। इसी प्रकार वे दैवी अथवा मानुषी कोई भी सत्ताका उपयोग करनेसे दूर रहते हैं। जिनका देहाभिमान सर्व प्रकारसे निवृत्त हो गया है और जिनके लिये देह सम्बन्धी शुभाशुभ परिणामकी धाराका भी निरोध हो गया है

ऐसे ज्ञानी महात्मा उदयमान शारीरिक कष्टको यथायोग्य रीतिसे भोग लेनेमें रंच मात्र संकोच नहीं करते। सामान्यतः कर्म दो प्रकारके होते हैं। एक प्रकार ऐसा है कि वह शुभ ध्यानसे मंत्रादि प्रयोगसे अथवा सयम द्वारा भोगा जासकता है परन्तु जो दूसरे प्रकारका कर्म है वह निकाचित है। एवम् जिस प्रकारसे वह बांधा गया है उसी प्रकार भोगा भी जाना चाहिये इससे छुटनेके लिये ज्ञानी जन कभी इच्छा नही करते। जो कर्म शिथिल हैं वे आत्माके पुरुषार्थ द्वारा छुटाये जा सकते हैं परन्तु जो निकाचित हैं उनका भोगनेसे ही छुटकारा हो सकता है।

परन्तु प्रकृति नियमानुसार दूसरी तरहके निकाचित कर्म भोगने ही पड़ते हैं। अतएव यदि वेदनीयादि कर्म दृढ़तासे उदयमान हो जाय तो भी महापुरुष उनको सदा सहनेको तैयार रहते हैं और अपनी प्राप्त सिद्धि अथवा दूसरोकी सहायसे सदा निरपेक्ष रहते हैं। जिनके अदर यथार्थ ज्ञानका अभाव है तो भी वे अपने आपको ज्ञानी मानते है उन्हें भी निकाचित कर्म भोगने ही पड़ते है। वीर प्रभुको इन्हे भोगनेकी अनिच्छा उनके उस समयकी ज्ञानमय दशाको देखते होना असंभव था और यही कारण था कि इन्होने इन्द्रकी प्रार्थनाका स्वीकार नहीं किया था।

भक्ति भावसे प्रेरित इन्द्रको प्रभुके शरीर पर अत्यन्त मोह था परन्तु वही शरीर प्रभुके लिये अकिंचितकर था। प्रभु यह अच्छी तरह जानते थे कि कर्मकी फलदात्री सत्ताका निरोध तेरवें गुणस्थानमें वर्त्तन करनेवाले महायोगीसे भी नहीं बन आता है तो फिर इन्द्रकी सहायता किस गिनतीमें है। आत्माका वास्तविक सामर्थ्य

सिर्फ भोग लेनेमें ही श्रेय है। आत्माद्वारा जो कारण पूर्व भवमें गतिमें रक्खे गये हैं उनको यथा योग्य परिणाम देते हुए कोई नहीं रोक सकता है। अवधिज्ञानसे प्रभु अपने पूर्वकालके निकाचित बंधको, उसके स्वरूपको और उसका जिस तरहसे भोगा जाना निर्माण हो चुका है, उसको अच्छी तरहसे जानते थे। अतएव उन्होंने उन कर्मोंको दूसरे तौर पर भोगनेका बिल्कुल प्रयत्न नहीं किया।

तो भी ऐसी कल्पना करना उपयुक्त नहीं है कि प्राणी मात्र अपने २ कर्मोंको भोगा करे इसमे किसीको दखल नहीं करना चाहिये। यदि ऐसा ही हो तो अनुकम्पा और दयाके मार्गका उच्छेद हो जानेका भय रहता है। सामान्य प्राणी यह नहीं जानते हैं कि अमुक कर्म शिथिल हैं अथवा निकाचित। किसी प्राणीको रोगवश देखकर अथवा उपसर्गमे दुःखी देखकर उसको सहायता देना यह शास्त्रका उत्सर्ग और सबसे श्रेष्ठ मार्ग है। क्योंकि ऐसा करनेसे वह पीडित जीव अनेक आर्त्त रौद्र ध्यानसे बच जाता है, और इससे अनेक नये कर्म उपार्जन करनेसे रुक जाता है। जो कि इस तरहकी सहायतासे यदि कर्मोंकी निवृत्ति होनी हो तो ही वे निवृत्त हो सकते है। परन्तु इससे पीडित आत्माको शान्ति और आश्वासनका निमित्त होकर उसके उदयमान कर्मोंकी तीव्रताको किसी अंशमें न्यून करनेमें समर्थ हो जाती है। यदि आत्मा किसीकी सहायता बिना प्रभुकी नाईं समभावमें रहनेको समर्थ हो तो भी दयाके मार्गका लोप न हो जाय इसलिये इस प्रवृत्तिको नित्य कायम रखना ही प्राणी मात्रका कर्तव्य है। जो कि बलवान

आत्माको ऐसी सहायता की कुछ भी उपेक्षा नहीं रहती है। कर्म रूपी अरिको जीतनेके लिये प्रभुने जिस अद्भुत चरित्रको गठित किया था वह देश अथवा कालसे निरपेक्ष पनेमे चाहे जिस आत्माको मोक्षपद स्थापित करनेको सम्पूर्ण था। हेमाद्रिकी नाई निश्चल परिणामी, सागरकी नाई गंभीर, सिंहकी नाई निर्भय और मोह रूपी सस लासे अजय, कूर्मकी नाई इन्द्रादिको गुप्त रखनेवाले, पक्षीके समान गुप्त विहारी, सब प्रकारके सुख दुःखमे समभावी इस लोक अथवा पर-लोकमें न्यूनाधिकता नही माननेवाले, जल स्थित कमल दलके नाई संसार पंकमे विहरने पर भी निर्लेप, गजेन्द्रके समान बलशाली होने पर भी मेमनेके माफिक किसीको नही नुक्सान पहुचानेवाले और अस्खलित गतिवाले वीर प्रभु समय २ पर अनंत पूर्वबद्ध कर्मकी निर्जरा करने २ विहार करते थे।

एक दफा भगवान श्वेताम्बी नामक नगरकी ओर जाते थे। रास्तेमे बटेमार्गुओने प्रभुको सचेत किये कि रास्तेमे दृष्टि विष सर्प रहता है, इसलिये वहां होकर पक्षी भी नही उड सकते हैं। प्रभुने अपने ज्ञान बलसे देखा तो मालूम हुआ कि वह अत्यन्त क्रोध स्वभाववाला है परन्तु उसमे एक गुण है कि वह सुलभबोधी है। जीवकी किसी भी अनिष्ट प्रकृतिको तीव्र उदयमान देखकर मनुष्य यह ख्याल करता है कि इसका सुधरना असंभव है। परन्तु वस्तुतः ऐसा नही होना चाहिये। जब चित्तका कोई अंश विकृत होता है तब उसको योग्य उपाय द्वारा सुधार सकते हैं इतना ही नहीं परन्तु उस अनिष्ट अंशका जितना बल बुराईकी ओर झुका होता है, उतना ही अंश भलाईकी ओर बदल दिया

जा सकता है। किसी भी प्रकारकी बलवान चित्तस्थिति उपयोगी गिनी जाती है चाहे वह इष्ट हो अथवा अनिष्ट। कारण कि दोनो बरोबर सामर्थ्य सम्पन्न हैं। सिर्फ फर्क इतना ही है कि वर्त्तमान शुभमें और दूसरे क्षणमें अशुभ लगा रहता है। तो भी दोनों शक्ति और कार्यक्षमताकी अपेक्षा बरोबर गिनने योग्य है। जिस शक्तिके ये शुभाशुभ परिणाम हैं, उस शक्तिकी हमें सदा प्रशंसा करना चाहिये। कच्चे अन्नको स्वादिष्ट पकवानके रूपमे पका देनेमें और अनेक उपयोगी वस्तुओंको भस्मीभूत करनेमे ज्यो अग्नि एक ही है त्यो शुभ और अशुभमें कर्त्तव्य परायण शक्ति आत्माके एक ही अशमेंसे उद्भवित होती है। मात्र इसका उपयोग अच्छी अथवा बुरी दशामे करना ही सिरफ अवशेष रहता है। बहुत मौको पर हमारी समझ भूलसे भरी हुई प्रतीत होती है कि हम तीव्र और अनिष्ट प्रकृतिको बहुत करके धिक्कारते है। परन्तु साथमे यह देखना भूलजाते हैं कि जो शक्ति इतना अधिक कार्य करनेको समर्थ है वही शक्ति इष्ट दशामे कार्य करनेकी योग्यता रखती है। जो चक्रवर्ती सातवें नरकमे जाने जितने तीव्रकर्म उपार्जन कर सकता है वह उसी कर्मको करनेकी शक्तिको यदि शुभ कार्यकी ओर लगा दे तो बहुत शीघ्र मोक्ष सुखका भोक्ता हो सकता है। वस्तुतः हमारा अधिकार प्रवृत्ति शून्यता की ओर होना चाहिये। जो कुछ भी शुभाशुभ करनेको समर्थ नही है, गलि हुए बादल की नाई जो जरा भी पानीको नही बर्षा सकते हैं, अचेतके माफिक जो जगतकी सत्ताकी ठोकरें खाया करता है, जिसकी पामरता, भोगलालसा, दारिद्र्य और प्रमादकी अवधि

नहीं है। कदापि ऐसे जीवोको हम सुधारके बाहिर वर्त्तमान कालमें गिन सकते हैं; परन्तु जिसमें कुछ जोश—पाणी वीर्य—शौर्य है वे उसके चाहे जिस शुभाशुभ परिणाममे प्रशंसा करने योग्य है। कारण कि उनके अशुभ पर्यायमे भी वे जिस द्रव्यसे बने है वह द्रव्य शक्ति क्षयोपशम भावमें आत्माको प्राप्त होता है और निमित्त मिलेपर यथेष्ट तौर पर विस्तारित हो सकता है।

प्रभु इस बातको अच्छी तरहसे जानते थे अतएव उन्होने वहाँ होकर जाना योग्य समझा। यदि ऐसा ही होता वे उस रास्ते होकर जानेकी बिलकुल आवश्यक्ता नही समझते। बडे पुरुषोकी प्रवृत्ति दशा स्वपरको कल्याणकारी होती है। प्रभु यह जानते थे कि किसी भी शक्तिकी विकृत अवस्था ही उस प्राणीके अयोग्यताका लक्षण नही है। सिर्फ उसके विकारका पराभव करके उसको सन्मार्गमे ले जानेकी अपेक्षा रहती है। जिस नदीके जल प्रवाहका बल सारे शहरको खींचकर ले जानेको समर्थ है उसमेसे यदि विद्युत पैदा की जाय तो उससे हजारो मिले चलने जितनी शक्ति पैदा हो जाती है इसी तरह द्रष्टि विष सर्पकी जो क्रोध ज्वाला उडते हुए पक्षीको भी भस्मीभूत करनेको समर्थ थी, उसी ज्वालाको बदलकर शान्तिमे परिणमन करते ही वह मोक्ष सुखको सहजमे दिला सकती है उसमे जितनी अनिष्ट करनेकी शक्ति है उतनी ही शक्ति उसमें कल्याण करनेकी है। सिर्फ इसको इष्ट कार्यकी ओर कैसे लगाना चाहिये इसके लिये विलक्षणता और धैर्यकी अपेक्षा रहती है। प्रभुने इस कार्यको सांगोपांग किस तरह पार किया यह बेशक हमारे लिये जानने योग्य बात है। उन्होंने जिस तरहसे

इस कार्यको पार किया है वह हमें अत्यन्त माननीय है। और उसी पद्धतिका आश्रय लेकर हम भी अपने इधर उधरके मनुष्योंके छोटे बडे दोषोको सुधार सकते हैं। दूसरोंके दोषोंको सुधारनेकी हमारी पद्धति भूलसे भरी हुई है इतना ही कहना काफी नहीं है परन्तु बिलकुल ही विपरीत है। सुखकी इच्छासे हम लोग अक्सर समक्ष मनुष्यके दोषोका प्रमाण बढा सकते हैं और हमारा राग द्वेष हमको मयममे रखनेसे असमर्थ होता है इससे उलटा हम समक्ष मनुष्यका अहित करते है। हम अक्सर क्रोधी मनुष्य प्रति अमुक हद तक आये बाद क्रोधको बताते हैं और हमारा यह वर्त्तन ही समक्ष मनुष्यके दोषोमें द्विगुणकी वृद्धि करता है। उसके क्रोधके साथ हमारा क्रोध मिलते ही विश्वमे क्रोधका प्रमाण बढ जाता है और क्रोधके प्रमाणको बढ़ानेमें हम सहायकहोते हैं। जहा पर पहिले एक मुट्टी धूल उडती थी वहा पर हम दूसरी मुष्टी धूलकी उडाते हैं। परन्तु वस्तुत हमे उसके प्रति परम शान्ति और क्षमाशील रहना चाहिये। कितनी ही विकट कसौटी क्यों न हो परन्तु हमें अपना काबू नही खोना चाहिये। यदि ऐसा ही किया जाय तो समक्ष मनुष्यका हित हो सकता है और यदि इसके विपरीत हम वर्त्तन करें तो हमारा और सामनेवाले मनुष्यका स्वभाव विशेष अनिष्ट हो जाता है। ज्यो अर्धदग्ध वैद्य रोगीको आराम नही पहुचा सकता है परन्तु उससे उलटी हानि होती है त्यों ही असंयमी मानव वैद्य भी हमारे समक्ष दोषोंको सुधारनेके बजाय उलटा प्रादुर्भाव करता है। जो लोग अन्त समय तक क्रोध प्रति शान्तिमयता, अभिमान प्रति दीनता, लोभ प्रति अकिंचनता और

मोह प्रति विरक्तता बता सकते है वे ही विश्वका कल्याण कर सकते है और अपने चारित्र रूपी दिव्य औषधसे जगतके भव्य जीवोके आत्मिक विचार मिटा सकते है। शान्ति और क्षमाके साथ क्रोध की टक्करसे क्रोधका पराभव होता है। इस बातको प्रभुने अपने दृष्टान्तसे जगत्को दर्शा दिया है।

वीरप्रभु उस भयङ्कर सर्पके बिलके पास आये और नासिकाके अग्र भाग पर नेत्रको स्थिर करके कायोत्सर्ग ध्यानमे खडे हो गये। थोडी देरमे साप बिलमेसे बाहिर आया और आते ही क्या देखता है कि एक पुरुष शंखुकी नाई स्थिर खडा है? देखते ही क्रोधसे लाल हो गया। वह अपने फणोको फैलाता हुआ, विषाग्निको फेकता हुआ, भयङ्कर फुन्कारसे दृष्टिको फेंकता हुआ प्रभुके पास आकर उनके अंगुष्ठको काटा। परन्तु उसके जहरका असर उनके एक रोममे भी नही हुआ और वे अपने कायोत्सर्गसे च्युत न होकर उसीके अदर लीन रहे। शीघ्र ही उस क्रोधके मूर्तिरूप सर्पने प्रभुके सामने दृष्टि की तो उसको मालूम हुआ कि उस पवित्र बदन पर जरा भी क्रोधकी प्रति छाया न थी अलावाइसके उनके मुखकी प्रसन्नतामे जरा भी न्यूनता नही हुई थी। प्रभुके मुख मुद्रापर अत्यन्त कांति, सौम्य तथा क्षमा शीलताको अकित देखकर स्तब्ध हो गया। प्रभुकी उपशांत रसमयता उसके हृदयमे प्रकाशित हो गई। प्रभुके शान्ति बलसे उसका क्रोध बलका पराभव हो गया। प्रभुने उसकी कपोल ज्वाला पर क्षमा जल डाला इससे वह स्वयम् बुझ गई। उसको सुधार पर आते देख प्रभु बोले हे चंडकौशिक! समझ!! समझ!!! मोह वश न हो।

पूर्वको स्मृतिमें ले ओर जो भूल हो चुकी है उसको सुधार और कल्याणके मार्गकी ओर प्रवृत्त हो " ये शब्द प्रभुके मुखसे ज्योंही निकले ही थे कि उसको पूर्वभवकी स्मृति हो गई । पहिले किसी भवमे वह एक तपस्वी मुनि था और इसने मुनिपनके योग्य कार्य किये थे अतएव इसके पापकी आलोचनाकी स्मृति देनेके लिये एक साधु आया वह उसको मारनेको लपका और बीचमे ही एक स्तभसे टक्कर खाकर मर गया । तप और क्रोध अक्सर जुडे हुए मालूम होते है और इसको अपने काबूमें न रखनेवालेकी कैसी अधोगति होती है हमारे लिये यह एक सुबोधमय उदाहरण है । पूर्वके क्रोध बलसे वह इस भवमे सापके रूपमे पैदा हुआ था । भावान्तरमें शुभाशुभ अवतारका निर्णायक हेतु क्या है ? वह भी इस परसे स्पष्ट समझा जा सकता है । यदि प्रकृतिका वर्तन आत्मामें बलशाली हो और जिस देहमें यह अमल आ सके वहा ही जीव उत्पन्न होता है । कामी मनुष्य चिडिया, कबूतर, डक्कर अथवा इससे भी नीचकोटिके जीवोमे जहां कि यह वासना अतिशय अमलमें आ सके वहा ही जन्म लेते है । क्रोधी जीवको अपने वासनाकी तृप्तिके अर्थ सर्प, वृश्चिक, व्याघ्र आदि योनियोमे जन्म लेना पडता है ।

यदि प्रभुने चड कौशिक सर्पके क्रोधके सामने अपना सामर्थ्य बतानेका प्रयत्न किया होता तो यह हो सकता था, कारण कि प्रभु सामर्थ्यको बतानेके लिये समर्थ थे । प्रभुने मात्र एक अगुष्ठेके दबावसे मेरु गिरीको चलायमान किया था वही शक्ति चडकौशिक जैसे महान सर्पोकी भस्मीभूत करनेको समर्थ थी उनके विलास मात्रसे वह सर्प भस्मीभूत हो सकता था । परन्तु प्रभु उस

मार्गको न लेते उन्होने उसी मार्गको हाथमे लिया जिससे उसका कल्याण हो जाय मूर्खके साथ मूर्ख होनेसे उसका स्वत्व तो लूटा जाता है इतना ही नहीं परन्तु उसके साथ मिलनेवालोका भी मा-ध्यमें लूटा जाता है। सर्पने अपने स्वाभानुसार प्रवृति की और प्रभुने अपने प्रभुत्व योग्य प्रवृति की उस पर अपने उपशम रसका सिच-नकर उसकोके ठिकाने लाया और उसी समयसे सर्पने अपना हिसक स्वभाव छोड दिया और पश्चातापमय जीवन गुजारने लगा। अपनी इस दु खमय स्थितिमे क्या हेतुभूत था उसको अच्छी तरह समझनेसे भूतकालके स्वभावको त्याग दिया उसने जितनी उग्रतासे पहिले क्रोधका सेवन किया था उतनी ही उग्रतासे वह शान्ति और क्षमाका सेवन करने लगा इतना ही नही परन्तु रास्तेमे चलने-वालोकी तरफ देखना तक छोड दिया। लोग उसके शरीरपर हाथ लगावे लकडी मारे तो भी उसने इधर उधर होना अथवा करवट लेना खाली नही परन्तु आहार आदिको भी छोड दिया। चीटियें उसके कलेवरके चारो ओर फिर गई और अमित वेदना करने लगी। तो भी उसने पहिले जिस वीर्यको अनिष्ट करनेमे स्फुरायमान किया था उसी वीर्यको अब परम अर्थके लिये स्फुरायमान करना योग्य समझा। अतएव चीटियें न दब जायें इस डरसे उसने करवटे लेना बंद कर दिया, आखिरमे काल क्रमसे करुणाके परिणामवाला सर्प यह देह छोडकर सहस्रार देवलोकमे देव हुआ।

वर्त्तमानकालमें अनेक महाजनोंके नजदीक, उनके शान्ति बलसे, हिंसक जीवोंने अपनी खराब वृत्तियें छोडदी है। स्वामी रामतीर्थ अनेकवार सर्प आदि जहरी जंतुओंके सहवासमें दिनके

दिन निर्गमन करते थे तो भी वे उनके कुछ इजा नहीं कर सकते थे। इस विश्वकी सनातन योजना ऐसी घटित हो चुकी है कि प्रेमीमें प्रेमका संचार होजाता है प्रेमके बदलेमें कोई धिक्कार नहीं दे सकता है। सिर्फ विकट कसौटीमेंसे निकलनेके लिये जितनी चाहिये उतनी मनुष्योमे घटित क्षमा और साहसकी कमी होती है। जो एक प्रसङ्ग पर एक मनुष्य द्वारा बन सकता था वह सर्व प्रसङ्गो पर सबसे बन सकता है। Exception proves the rule अपवाद ही मूल नियमको पूरा करता है।

एक दिन प्रभु गंगा नदीको पार करनेके लिये पथिकोके साथ नावमें बैठे। समुद्रके समान जलभारसे छलकती सरिताके बीचमे जब नाव आया, तब प्रभुके पूर्व भवका एक बैरी आत्मा जो उस समय सुदृष्ट देव था उसको अपना पुराना बैर याद आया। कर्मके महा नियमकी मर्यादामे बड़े सेबडे मनुष्य बंधे हुए है। वह सुदृष्टदेव पूर्वके भवमे एक सिंह था और वर्द्धमान प्रभुने उस सिंहको मात्र क्रीडाके हेतु मारडाला था। कोई भी हेतु अथवा कोप कारण बिना नहीं होता है सिर्फ खेलके लिये दूसरोके प्राण लेनेमे निर्ध्वंसपन है और इससे जो दूसरोकी अवज्ञा होती है उसका बदला कर्मफलदात्री सत्ता बहुत सख्ताईसे लेती है। त्रिपृष्ठको जितना जीनेका हक था, उतना ही उस सिंहको था। कर्मकी सत्ताने जो आयुष्यका प्रमाण सिंहके लिये मुकरर किया था उसको बीचमेंसे ही काट देनेसे त्रिपृष्ठने प्रकृतिकी सीधी गतिमें जो निर्हेतुक कोलाहल किया था उसका बदला समयका परिपाक होने पर त्रिपृष्ठको सहना ही चाहिये। मनुष्यका कर्त्तव्य उससे नीच कोटिके जीवोंका रक्षण करनेका है। उसका

उच्च अधिकार और बल उससे नीची कोटिके प्राणियोको नाश करनेमे न लगाते उसका सदुपयोग करना चाहिये ताकि वे हमारे बरोबर अधिकारकी ओर अपने आप आजायें। उनको अच्छे रास्ते पर लगाना श्रेष्ठ है परन्तु ऐसा करनेमे जब वे निष्फल होजाते हैं तब वे अपने उच्चतम सामर्थ्यका उपयोग नीच कोटिके जीवोको मारनेको लगते हैं। तब वे प्रकृतिकी साम्यावस्थामे एक तरहका क्षोभ उत्पन्न करते है। प्रकृतिका सामायिक वेग क्षोभको शान्त कर पुनः साम्य स्थापित करनेकी ओर होता है और ऐसा करनेमे जो बल प्रकृतिको लगाना पडता है, वह क्षोभके प्रमाणमे ही होनेसे आत्मा जो क्षोभ उत्पन्न करता है उसके तारतम्यानुसार प्रकृतिको न्यूनाधिक उद्योग करना पडता है और आखिरमे प्रकृतिका प्रत्याघात उस क्षोभ उत्पन्न करनेवाले आत्मा प्रति होता है। इस क्षोभको शान्त करनेमे प्रकृतिको जो समय लगता है उस समयको हमारे शास्त्र 'कर्मकी सत्तागतावस्था' इस नामसे सम्बोधित करते है और जब प्रकृति इसको शान्त कर देती है तब उसका प्रत्याघात उस क्षोभ करनेवाले आत्मा प्रति होता है उस समयको हम कर्मका उदय काल कहते हैं। सत्तागत अवस्थामे यदि आत्मा अपने बलके उदयका उपयोग प्रकृतिके क्षोभको शान्त करनेकी ओर लगावे तो उस सहायताके प्रमाण उसके प्रति प्रत्याघातका बल न्यून होता है। इसलिये हमारे शास्त्रकार कहते हैं कि जहा तक कर्म सत्तामे होते हैं वहांतक वे शान्त होनेकी पात्रता रखते है और उसका निवारण मात्र ही कुदरतकी गतिमे उद्भवित क्षोभको शान्त करनेके लिये परिश्रम करना ही है ताकि उनका निवारण हो जाय। गर्विष्ट

आत्माको क्षोभ उत्पन्न करते समय अथवा इसके पश्चात् उसको बिलकुल भान नहीं रहता है। आखिरमें उस पर क्षोभजनित ठोकरोंका ही उत्पतन (Rebound) होता है तब उसकी आंखे खुलती हैं। परन्तु उस समयका पश्चाताप व्यर्थ है। वही पश्चाताप यदि कर्मकी सत्तागत अवस्थामे हुआ होता अर्थात् जिस समय प्रकृति क्षोभको शमाती थी उस समय हुआ होता तो उसका कुछ परिणाम भी निकलता। परन्तु जब पाप फूट जाता है अर्थात् जब प्रकृति अपना वेर लेना शुरू कर देती है उस समय यह बिलकुल व्यर्थ है। इतना नहीं परन्तु इससे उलटा क्षोभ उत्पन्न होता है।

सुदंष्ट्रदेवने अपनी दिव्य शक्तिके प्रभावसे भयङ्कर सवर्तक वायु (cyclone) पैदा किया और उसके द्वारा नावको डुबाने लगा। भागीरथीका अगाध जल चारो ओर उछलने लगा और नावके बचनेकी कोई आशा नही रही। चड भी टूट गये और उसमे बैठनेवाले सर्व मनुष्योने प्राणके बचनेकी आशा छोड दी। जिस क्षणमे कि नाव डुबनेको तैयार हुई थी उसी क्षणमे दो कंबल और संबल नामक देव भक्ति भावसे प्रभुप्रति प्रेरित होकर वहा आये और प्रभुके निमित्त दूसरोके प्राणोका नाश समझ उन्होने शीघ्र ही उस नावको किनारे पर लाकर लगादी। वहा पर दोनो देवोने प्रभुसे बंदना की। पश्चात् अपने स्थान पर चले गये। इस विकट प्रसङ्गमेसे भी निकल जानेसे क्षमानिधान प्रभुने सुदंष्टपर क्रोध भाव और उपकार करनेवाले उन देवों पर राग भाव नही दर्शाया। देह सम्बन्धी साता और असाताके प्रसङ्गोपर न तो वे हर्षित हुए थे और न शोकातुर हुए

थे। वे जानते थे कि सुख दुःख जिसके द्वारा उत्पन्न होता है वह मात्र कुदरती नियमके साधन (agency) है उनके प्रति उद्‌भवित प्रत्येक भाव व्यर्थ है। मूर्ख मनुष्य उस २ प्रकारके निमित्त प्रति विविध प्रकारके मनोभावोंका सेवन करते हैं। प्रभुको यह यह सुज्ञात था कि दोनो कोटिके देव खुदके पूर्वके प्रवर्तित कारणोंके फलीभूत होनेमे हथियार रूप थे अतएव इन हथियारों पर राग द्वेष करना व्यर्थ है। जिस साधनद्वारा कर्म फलदात्री सत्ता उस नियमको गतिमे रखती है उसके साधन पर ही अज्ञान मनुष्य राग द्वेष करते है। इन दोनो प्रकारके शुभाशुभ साधनको एक साथ गतिमे रखने पर भी प्रभुने अपने निरुद्विपनको नहीं त्यागा था। चित्तकी सम स्थितिको कायम रखनेके लिये भीषण वृतसे वे जरा भी चलित नही हुए। जब हम पामर जीव सहज प्रसङ्गसे राग द्वेषका सेवन करते है तब महाजन जिसके द्वारा अपने जीवन त्यागका भय उत्पन्न होता है अथवा जिसके द्वारा स्थूल मृत्युसे मुक्त होसके, ऐसे साधनों पर हर्ष अथवा शोक करके बधवश नही होते हैं। जिस तरह पवन सुवासित और दुर्गंधित दोनों तरहके द्रव्योंको अपने साथ लपेट कर अव्याकुलतासे बहता है। उसी तरह महात्मा भी खुदको सुख देनेवाले और दुःख देनेवाले इन दोनो तरहके उदयाधीनमें प्राप्त होनेवाले सत्वोको, अव्यग्रहतासे साथ लेकर विचरते हैं।

दीक्षाके समयसे लेकर कैवल्य प्राप्तिके समय तक अर्थात् बारह वर्ष तक प्रभुने मौन धारण किया था। उनके चारित्रका यह अंश अत्यन्त बोधक है। स्वहित साधने प्रति जिनकी दृष्टि है

उनके लिये यह अमूल्य शिक्षणसे भरपूर है। जब तक प्रभुको कैवल्य प्राप्त नहीं हुआ था उस समय तक उन्होंने किसीको उपदेश नहीं दिया था इतना ही नही जहांतक हो सका अपने प्रयत्न द्वारा उसका परिहार किया था। जिनके अंदर कैवल्यके सिवाय और चार प्रकारके ज्ञान विद्यमान थे उन महावीर प्रभुने दीक्षा लेते ही शीघ्र उपदेश प्रवृत्ति शुरू कर दी होती और वे उसमें न्यूनाधिक अशमे सफलताको भी प्राप्त करते। परन्तु ऐसा न करते पहले उन्होंने खुदका कल्याण करना योग्य समझा और इस सर्वोत्कृष्ट हितको साधने पर्यन्त मौन हीमे रहे। ये किस हेतु विशेषके लिये था इसको समझनेका हम सबको प्रयत्न करना चाहिये।

आत्मा जितने अशमे पूर्णताको प्राप्त हो जाता है अथवा परमपदके नजदीक होता है उतने ही अशमे दूसरे मनुष्योका हित करनेको समर्थ होता है। जिसके जीवको अभी सैंकडो तरहसे सुधारना बाकी है जब वह दूसरेको सुधारनेका झडा लेकर मैदानमे कूद पडता है और इस तरहमे झडा लेकर फिरनेसे इस विश्वपर खराब असर होती है। जहा तक सुधारकका चरित्र दोषयुक्त और विकल होता है वहा तक जो प्रवृति दूसरोको उपदेश देनेमे लगाई जाती है इससे स्व और पर दोनोंके हितका विनाश होता है। दोष युक्त पानीसे भीगे हुए अन्त.करणके दागको निकालनेका कर्तव्य छोड देना चाहिये और अज्ञानकी मैशको निकालनेका प्रयत्न करना ठीक ऐसा ही है जैसा कि एक कोयलेको दूसरे कोयलेके साथ घिस कर उसके द्वारा दुसरे कोयलेको उज्ज्वल करनेके उद्योग समान है। मनुष्यका मुख्य फर्ज है कि उसका लक्ष कमरकसकर अपने सम्पूर्ण हित

साधनेकी ओर होना चाहिये। अपना स्वहित साधे बाद अपने ज्वलंत उदाहरणसे वह जितना दूसरोका हित साध सकता है वही हित अपनी अपूर्ण अवस्थामे किसी तरहके उद्योग अथवा सत्तासे कोई नहीं साध सकता है। सम्पूर्ण मनुष्य थोड़ेसे प्रयत्नसे हजारों मनुष्यके मन पर स्थायी असर कर सकता है। परन्तु अपूर्ण मनुष्यमें मूर्खाईसे भरा हुआ पर हित साधनेका आवेश मात्र ही होता है इधर उधरके मनुष्योंकी थोडी बहुत प्रशसाके सिवाय कुछ फल नहीं प्रकट करा सकता है। बाहिरी चाहे कितना ही आडम्बर क्यो न हो तो भी जबतक उपदेशक अन्त करणके विचार न्यूनता और अपूर्णतासे भरे होते है तबतक वह किसीका सम्पूर्ण हित नही साध सकता है। खुदके हृदयमे जितने अशमे ज्ञानका दीपक प्रकाशित होता है उतने ही अशमे वह दूसरो पर असर कर सकता है। अपना कुछ हित साधे बिना उपदेश द्वारा दूसरोंके कल्याण करनेकी मुर्खाई पर अपना उदाहरणरूप अकुशको रखनेके लिये ही प्रभुने मौन सेवन किया था। परहित साधनेका आवेश बहुत प्रशसाकी लालचमें उद्भवित होता है और इससे इस उपदेश प्रवृत्तिको जो निर्दोष और परोपकार बुद्धिमेसे उद्भवित मानते हैं वे ठगे जाते हैं। स्वहितके कल्याणके भोगमे अथवा खुदके अन्तःकरणका अधेरा कायम रखनेके लिये जो लोग ससारको प्रकाश जबरदस्ती लानेमें प्रयत्नशील रहते है। वे हितके बजाय उलटा अपने दृष्टान्तसे संसारका अहित करते हैं। इससे उलटा जिनका लक्ष स्वहित साधनेकी ओर है और जो साधकअवस्थामे परहित साधनेके अविचार भरे आवेशमें नही पड़ते हैं वे आखिर जगतका सम्पूर्ण-

हित करनेवाले होते हैं और अपना साधक पद पूर्ण होनेके पश्चात् अपने उत्कृष्ट उदाहरणसे असंख्य मनुष्योंके हृदयपर ज्ञानका प्रकाश डाल सकते हैं। दूसरोंको सुधारनेका आवेग ही एक तरहकी निर्बलता है इस निर्बलतामें पड़कर अपने हितमें प्रमाद सेवन करनेका प्राकृत हृदय कितना अधिक पात्र है इस बातको प्रभु जानते थे अतएव उन्होंने इस निर्बलतासे अपना रक्षण करनेका हमें उपदेश दिया है। जो दोष हमारेमें विद्यमान हैं उन दोषोंको त्याग करनेका उपदेश समक्ष मनुष्यके अन्तःकरणपर खराब असर पैदा करता है इससे जो खराब असर होता है इसको भविष्यमें कम करनेके लिये ही प्रभुने अपने दृष्टान्तसे बता दिया कि उपदेशकका साधक पद जितने अंशमें पूर्ण हो उतने ही अंश वह दूसरोको उपदेश देने लायक है।

जब हम आजकलकी परिस्थितियोंका अवलोकन करते हैं तो हमें प्रभुके उद्देशसे कुछ दूसरा ही दृश्य चारो ओर नजर आता है जिस आवेशको रोकनेके लिये प्रभुने बारह वर्ष तक मौन धारण किया था और उसके द्वारा ही उदाहरण रूप छाप मारनेका प्रयत्न किया था। इसी आवेशने उपदेशकोंके हृदयमें भयङ्कररूप धारण कर लिया है। आज कुछ नई बात सुनी कि एकदम टेबलपर खड़े होकर हाथ लम्बाते हुए दर्शाते हैं परन्तु दूसरोंको लाभ करनेवाली इस मिथ्या परमार्थवाली वृत्तिका लोगोंमें दुर्निग्रह हो चुका है। जिस तरह बिल्लीके पेटमें खीर नहीं टिकती है ठीक उसीके सदृश ऐसे मनुष्य कुछ जान लेनेके पश्चात् चाहे वह सत्य हो अथवा असत्य, परन्तु जहां तक वे इसको लोगोंके सामने प्रदर्शित न करे

उनका अकेला नहीं उतरता है। खुदने अपने मनसे जिस सुखका मार्ग शोध निकाला है उसको आचरणमें रखे बिना और उसका अनुभवगत लाभ लिये बिना दूसरोंको अपना निश्चय टमानेकी मूर्खताका दर्द इस संसारमें साधारण हो चुका है। इधर उधरसे एक दो बातें इकट्ठी करके वे भी " पर च्छका [illegible] प्रकट करते हैं कि अरे! मूर्खों! मैंने जो सुखका मार्ग तुम्हारे लिये शोध निकाला है उसको तुम क्यों नहीं स्वीकार करते? परन्तु जब संसार उनकी कुछ परवाह नहीं करता है तब वे गुस्सेमें आकर कहते हैं कि पचास [illegible] भजने शुरू [illegible] उपदेश लोगों [illegible] नहीं होती है [illegible] वे और [illegible] है। जो उप [illegible] लिये [illegible] नहीं देखे [illegible] पूर्णताके प्रम [illegible] सिद्धा-न्त [illegible] कल्पका प्रभा [illegible] है।

[illegible] और यदि ऐसा [illegible] आजकल छाती ठोकर बोलनेवाले उपदेशकोंकी संख्या पहलेसे अधिक है तो भी बहुत थोडे मनुष्योंका ही क्यों कल्याण होताहै इसका जब विचार करते हैं तो मालूम होता है कि इसतरह कल्याणका उपदेश कर

नेवालोंने क्या अपने उपदेशका जरा भी रंग अपने हृदयमें लगने दिया है । जो कुछ अपने मुँहसे कहते है उसका खुद पालन नहीं करते हैं और फिर उसके द्वारा संसारका कल्याण करने निकले यह कैसे बन सकता है । जिनको अपने परिवारके कारणसे फरजीयात बोध देना प्राप्त हुआ है उनके लिये यह प्रवृत्ति यन्त्रवत् हो गई है इससे श्रोतृगणपर ऐसे बोधका जो परावर्त्तन होता है, वह भी असरहीन और मेत्र मनुष्यके सदृश क्षणस्थायी होता है, । इसके सिवाय जिनके हृदयमें कुछ न्यूनाधिक आवेग प्रकट हुआ करता है वे [illegible] विश्वको आधार [illegible] उनके लिये धैर्य और [illegible] नहीं करते और [illegible] मरे बाद [illegible] थोड़े [illegible] अधिक [illegible] सूर्य [illegible] सहित प्रकाशित [illegible] हैं और [illegible] अज्ञान भाइयोंको [illegible] बाहर निकल जाते हैं। उस [illegible] उनके अन्दर इतना आवेश पैदा होता है कि जिसके द्वारा उनके मनमें यह विचार होता है कि आकाश पातालको एक कर दूँ । वे अपने [illegible] को भी अपनी मूर्खताके आवेशमें भूल जाते हैं और ताजियेके दिनोंमें फिरते जनूनी मुसलमानोंके सदृश अपनी पताकाको फहराते हैं और ढोलकीयें बजाते २ वे फिरते रहते हैं। वे यही खयाल करते हैं कि मेरी दैवी सत्ताका रंग सारे विश्वपर घड़ीके छट्ठे भागमें बैठ जायगा और जगत् मेरे निश्चयका अनुचरण करनेवाला बन जायगा । अक्सर तो वे यह भी मान लेते हैं कि यह आवेग उन्हें परमेश्वर अथवा इससे उत्तरोत्तर किसी दैवी सत्ता

की ओरसे प्रेरित हुआ है और उस सत्ताने हमारे द्वारा विश्वको सुधारनेका क्रम आरंभ किया है। परन्तु अब जगत् इनके सुखद निश्चयों पर मोहित नहीं होता है और न उस ओर रुजु होता देखते हैं इतना ही नहीं परन्तु जब उनको सुनहरी पुष्पो द्वारा बधानेवाला कोई भी नहीं आता है, तब प्रथम तो उन्हें आश्चर्य होता है कि क्या होनेवाला है! हमारी असाधरण तत्वकी बातें सुननेके लिये मनुष्य क्यों दौडकर नहीं आते हैं? और किसीको मुद्दत तक न आता देख कर वे गुस्सेमें आजाते हैं और सारे विश्वको मूर्ख, अज्ञान, दुर्मन्य, पापमें मस्त रहनेवाले आदि सैकडों गालियें देने लग जाते हैं और अपने लाखों भाषणों और लेखोंमें ऐसा ही प्रयोग करते हैं और अपने आपको इस जगतके बाहिरकी वस्तुके होनेका डौल करते हैं और दूसरे सब विश्वको इस अंधार युगमें गिनते हैं अपने अधिक उद्योग पर भी जब वे जगत्का कार्य धीरि गतिसे उसके नि य क्रम पर ही देखते हैं तब वे जगत्के कल्याण करनेके विषयमें निराशवादी हो जाते हैं। हे उपदेशको! जरा वापिस फिर कर अपने अंदरकी भूमिकाका अवलोकन करो तो तुम्हें दीयेके माफिक साफ रोशन हो जायगा कि तुम जिस निश्चय द्वारा जगत्को चलाना चाहते हो उसका तुम्हें जरा भी अनुभव नहीं है, तुम्हें अपने आपको अभी सेकड़ों तरहसे सुधारना बाकी है। दुनिया सुधार पर आनेको तैयार है परन्तु इसके पहिले तुम्हे सुधर कर आना चाहिये। फिर जगत्को सुधारनेके लिये तुम्हें अधिक बोध भी नहीं देना पड़ेगा। तुम्हारा चरित्र और आचार ही उनके लिये दीयेका कार्य करेगे।

इस परसे किसी पर आक्षेप करनेका आशय नहीं रखा है मात्र मनुष्यके हृदय गुप्त और निगूढ़तासे घर करके बैठी हुई एक त्याग करने योग्य निर्बलताको प्रकाशमें लानेका प्रयत्न किया है। प्रभुको कैवल्य प्राप्त हुए पश्चात् उन्होंने जिस श्रेणीसे उपदेश प्रवृत्ति शुरू की थी उसमेंसे भी अनेक शिक्षणीय अंश ग्रहण करने योग्य हैं न तो उन्होंने वर्त्तमान उपदेशकोंके नाईं दूसरेके छिद्र खोजनेका उद्योग किया था और न दूसरोंके धार्मिक वर्त्तन अथवा आचार विचार पर दोधारी खड्ग फिरानेका उद्योग किया था। विश्वका सर्वोत्कृष्ट कल्याण करनेके अर्थ ही उनके तीर्थंकर पदका निर्माण हुआ था तो भी उन्होंने निर्माणको सिद्ध करनेके लिये किसीको उपदेश पराने अथवा समक्ष मनुष्यकी अनिच्छापर देनेका प्रयत्न नहीं किया तथा उनके आचार विचारको बीचमें ही छुड़ाकर अपने बाड़ेमें आनेको लोगोंको नहीं ललचाये। उनकी *उपदेश पद्धति शान्त, रुचिकर, दुश्मनको भी हृदय स्पर्शी और मर्मग्राही थी तथा उसका आशय श्रोतृ वर्गके हृदयमें शीघ्र असर कर लेता था इतना ही नहीं परन्तु वह बिल्कुल सरल थी। प्रभुकी यह इच्छा नहीं थी कि संसार मेरे अभिप्रायके बराबर ही वर्त्तन करे और मेरे आशयके ही अनुसार चले कारण कि वे इस बातको अच्छी तरह जानते थे कि

---

* भगवानकी देशना प्राणी मात्रके लिये इतनी सरल और हृदय स्पर्शी थी कि उसको मनुष्यसे लगाकर पशु पक्षी आदि जितने जीव इस विश्वमें जन्म लेते हैं वे अपनी २ भाषाओंमें समझ लेते थे भगवान शहर, जंगल, और पहाड़ आदि अनेक स्थानोंमें संसारके सकल प्राणियोंके हितार्थ उपदेश दिया करते थे। ग्रन्थकार कहते हैं कि उनकी सभामें उनके उपदेशको सुननेके लिये तिर्यंच भी आते थे।

ऐसी इच्छा भी एक तरहकी निर्बलता है और वह मनुष्य हृदयके संठनके अज्ञानको सूचित करनेवाली है। सारी दुनियाने विवाद रहित विषय पर कभी मतभेद जाहिर नहीं किया और भविष्यमें नहीं करेगी। कहा जाता है कि उनकी पहिली देशना सर्वथा खाली गई थी अर्थात् उनके उपदेशके असरसे एक भी अन्तःकरण चलित नहीं हुआ था तो भी उन्होंने इस परसे दुनियाकी किसी चिन्ता नहीं की और न उसे बिगाड़ने जाहिर की। आजकल मतभेद और अनेक संप्रदायका प्रवाह चलता है तो उस समयके देशकालके स्वरूपके आश्रित प्रवाह अवश्यमेव चलता होगा कारण कि मनुष्यके हृदयका संगठन सब ही देशकालों पर एकसा रहता है—सिर्फ उनके ऊपर प्रचलित भावनाओंकी छाप ही पडती है। आजकल हम अपने सामने मूर्ति पूजक और मूर्ति निषेधक ये दो तरहके लोग एक दूसरेके सामने मानसिक आन्दोलन देते हैं और सुधारक कहलानेवाले और सना- तनियोंकी लडाई भी रंगरूपको बनाकर सामनेवालेकी छातीमें वाणी रूप गोले फेंकते रहते है। उस समयके अनुसार उस समय भी ऐसा ही अवश्यमेव था। मूर्त्ति माननेवाले ऐसी चिन्ता करते हैं कि मूर्त्ति नही माननेवालोंका प्रभुके यहा कितना बुरा हाल होगा उसको हम इस लेखनी द्वारा नही प्रदर्शित कर सकते हैं और हर तरहके यत्नसे वर्त्तमान अंधकार प्रदेशमें मूर्त्ति पूजाको प्रकाशमें लानेको प्रतिक्षण सजल नयनसे प्रार्थना करते हैं इनमेंका कुछ भी महावीर प्रभुके उपदेश प्रवृत्तिमें न था। मूर्त्तिके विरोधी प्रभुसे प्रार्थना करते हैं। हे नाथ! शिमलासे लगाकर शेतुबंध रामेश्वर तक और द्वारकासे लाकर आसामके पूर्व कोने तक

सर्व मूर्तियोंको इस क्षणमें ही समुद्रमें डलवा दे तो ही हिन्दुस्तानका कुछ कल्याण हो सकता है, इसलिये हे प्रभु ! इस गरीब हिन्द पर कृपा करके मेरी प्रार्थना पर अमल करो" मतलब ऐसा है कि अभी ही परमेश्वर आकार इस वेवकूफाईसे भरी प्रार्थनाको स्वीकार कर इनके कहने अनुसार कर देगा। आवेशमें आकर वे कहते हैं कि प्रभु हमारी योजनामें मदद कर्त्ता होवे। जहां तक उनसे बन पडता है युक्ति पर युक्तिसे जो बातें आवें वैसे मूर्त्तिपूजाके विरोधी बना लेते हैं और मानते हैं कि थोडे ही समयमें सारा आर्यावर्त्त हमारे करे हुए सत्यका अनुमान करके उनके सिद्धान्तका अनुचरण करने लग जायगा परन्तु जब वो अपने हृदयका रंग दूसरों पर चढता नहीं देखते हैं और उत्साह रहित यानि भाडेके टट्टू समान संसारको ठण्डे आवेशसे चलता देखते हैं तब वे अपने आवेशमें सुनो दो पाँच गालिये दे मारते है और कहते हैं कि परमेश्वर को भी इस दुनियाका बडा राज्य चलाना नहीं आता। वे यह मानते हैं कि यदि परमेश्वर के पास हमारे जैसे दो पाच सलाहकार होते तो इतना अधिक अंधेरा नही होता। अरे ! संसारको प्रकाशमें लानेके आवेगसे प्रेरित दयापात्र मनुष्यो ! जरा आत्मस्थितिको समझो और पहिले अपना कल्याण करो ।

कोई भी बात किसीके हृदयको अरुचिकर लगती हो और वह हमे चाहे कल्याणकारी प्रतीत होती हो तो भी उसको बलात्कारसे किसीके आगे रखना उससे इसको सत्य मनानेका प्रयत्न करना मानो ऐसा है कि तलवारके जोरसे अपना धर्म मनानेवाले पूर्वके मुसलमान राजाओंके समान ही कार्य है। दोनोंकी कार्य

पद्धतिमें इतनी अधिक समानता है कि दोनोको एक दूसरेसे शायद ही चढते उतरते माने जा सके। एक स्थान पर फोलादके शस्त्रका उपयोग होता है तो दूसरे स्थानपर वाणीरूप हथीयारका ही उपयोग होता है। एकका आघात स्थूल शरीर होता है, तब दूसरे का प्रहार हृदयके मर्म भाग पर होता है। फर्क इतना ही है कि जब एकका घा न्यूनाधिक कालमें ही रुजता है तब दूसरेका मार्मिक घा मरण पर्यन्त और उसके बाद भव प्रवासमें भी अव्यक्तपनामें कायम ही रहता है। अपने निश्चय पश्चात् चाहे वह योग्य हो अथवा अयोग्य—दूसरेके हृदयमें बलात्कारसे उतारनेका प्रयत्न करनेवाला मनुष्य—अपना तथा समक्ष मनुष्यका अहित ही करता है। कभी अपना निश्चय उत्तम तथा हितकारक हो परन्तु समक्ष मनुष्यके हृदयमें उसको जबरदस्ती ठसाना अयोग्य है ऐसी प्रवृति उलटा उसको उस उत्तम निश्चयसे अधिक और अधिक विमुख रखती है। इतना ही नहीं परन्तु उस समक्ष मनुष्यके हृदयमें उस निश्चय प्रति जो एक दफा दुराग्रह दृढीभूत हो जाता है तो वह उसको सीधेरूपमें यथायोग्य तौर पर देखना भी छोड़ देता है।

भयंकर शास्त्रोंसे जो युद्ध होता है और उसके द्वारा जो मनुष्य संहार होता है ये जितना अनिष्ट है उतना ही जो वाणीद्वारा युद्ध होता है, अनिष्ट है अथवा इससे भी अधिक निंद्य है क्योंकि स्थूल आघातका असर स्थूल देहमें ही परिसमाप्त हो जाता है, परन्तु वाणीके मार्मिक प्रहारका असर आत्माके अन्तःस्थ प्रदेश पर स्थायी संस्काररूपमें दीर्घकाल तक रहता है। हरएक लिये यह

अत्यन्त चाहने योग्य स्थिति है कि सारी पृथ्वीपरसे सकल युद्धका जमाना नष्ट हो जाय और सर्वत्र शान्तिका महाराज्य विस्तारित हो जाय तो इससे संसारका अधिक उपकार हो सकता है। इतना ही नहीं परन्तु मर्मभेदक वाणीके युद्ध बंद होकर आन्तरिक शान्तिको क्षुब्ध करनेवाले निमित्तोंके साधन इकट्ठे हो जाय तो अधिक अच्छा है। दोनोंसे होनेवाली हानी और उनके परिणाम एकसे ही दुःखद और अनिष्ट हैं।

ऐसा होनेपर आश्चय तो यह है कि स्थूल युद्धको त्रासदायक गिनकर उसको धिक्कारनेवाले विद्वान् वाणीरूपी युद्धमें उत्साहसे जुड जाते हैं और खुदको जो निश्चय अथवा सिद्धान्त सच्चा प्रतित हो और उसके सिवाय तमाम निश्चय और सिद्धान्त पर अपनी पंडिताइको ऊपर चढ़ाकर तथा जोशमें आकर अपने वाणीके शस्त्र सहित जङ्गलीकी नाइ टूट पडते हैं। खुदको जो बात सच्ची मालूम हो उसे प्रतिपादन कर देना अच्छा है सिवाय इसके हमे जिन सिद्धान्तोंमें कभी अच्छी बाते भास्यमान होती हैं तो उनको न्यायानुसार योग्य वाणीमें दर्शाकर वे बैठे रहे तो पूरेपूरा दुनियाका हित ही करते हैं। परन्तु इसके साथ वे हमारो मनुष्योंके हृदयको अकारण बोलकर छिन्नभिन्न करके फेंकनेके कर्तव्यको भी एक ईश्वरीय फर्ज ही मानते हैं और सबसे अधिक आश्चर्यकी बात तो यह है कि जब मनुष्यके प्राणको अकारण हरनेवाला किसी राज्यका इतिहास लिख लिया जाता है, तब पूर्वोक्त कथित विद्वान महा पुरुषके नाइ अथवा दुनियामें सत्यका स्थापन करके जानेवालेके नाइ पूजा जाता है।

महावीर प्रभुने इस बातका बिलकुल भी फिक्र नहीकिया कि मेरा समुदाय दूसरे संप्रदायके मुकाबलेमें संख्यामें पीछे रह जायगा। उन्होंने सिरफ अपने धर्मसंघमें आनेवाले मनुष्योंको अत्यन्त सरल, प्रेमभाव और मिष्ट वाणी द्वारा उनके अधिकार अनुसार घटता उपदेश दिया। महावीर प्रभुके अनुयाइओंकी संख्या गोशाला जैसे एक सामान्य प्रवर्तकके अनुयाइओंकी संख्यासे कम था। इसपरसे यह ज्ञात होता है कि प्रभुने अपने अनुयायीओंकी संख्या बढानेकी ओर दूसरोंके बराबर ध्यान नहीं रखा था। यदि उनका ऐसा आशय होता तो वे अपने अलौकिक सामर्थ्य द्वारा अपने अनुयायीओंकी बडी संख्या बना सकते थे। परन्तु उनके चारित्रपरसे यह साफ सिद्ध होता है कि उन्होंने अपने उपदेश रूपी जलके घडेको उठाकर जबरदस्ती रगडकर उसे संसारको पिलानेका उद्योग नहीं किया। प्रभुका यह एक अनुभव गत सिद्धान्त था कि दुनियाके हृदयमें जाने उतारनेसे जबरदस्ती ठसाने से उसका वास्तविक हित नहीं हो सकता। कभी क्षणभर उपदेशके दीव्य प्रभावसे अथवा प्रतिभासे अंधे होकर मनुष्य उनका अनुसरण करे परन्तु इससे उनका स्थायी कल्याण नही हो सकता इसलिये जिस तरह मात्र लोक समुहमें सत्य प्रति रुचि उत्पन्न हो और उनके हृदयमें इष्ट उपदेश परोक्षमें उन्हे खबरबिदुन अर्थात् उनके हृदयमे परिणमन हो जाय उसी शैली द्वारा प्रभुने काम लिया था। न संख्या अथवा सुमहपर पमुने कभी जोर दिया और न उसमें उन्होंने जनहितका जरा भी संकेत माना। वे यह अच्छी तरहसे जानते थे कि संख्या यह कृत्रिम तौरपर जमे हुए धुंएंके

बादलोंके बरोबर एक क्षणिक दृश्य है। उन्होंने न तो संख्यामें केवल धर्म्मकी गहराइ मानी और न धर्मका विस्तार माना।

लोगोंके हृदय प्रदेशपर सत्यका पट बिठानेकी ओर ही प्रभुका लक्ष था। गोशालाके नाइ संख्या बढानेकी ओर उनका लक्ष नहीं था। प्रभु परिणामदर्शी थे, संख्याको एकत्रित करनेवाला मनुष्य जब चला जाता है तब धुएंके गोटेके बादलोंकी नाइ नष्ट और छिन्न जाता है और उसके पीछे कुछ भी चिन्ह अवशेष नहीं रहता है। संख्याका बल इकट्ठा करना और लोगोंके हृदयपर कल्याणकी भावना अंकित करना यह बिलकुल भिन्न २ कार्य है पूर्वके कार्य फतेमन्दीसे करनेके लिये व्यवस्थापक शक्ति (organizing power) आदि लौकिक सामर्थ्योंकी अपेक्षा रहती है तब पीछला कार्य करनेके लिये जन कल्याणपर विशुद्ध और कुछ अलौकिक आशयके प्रभावकी आवश्यक्ता है। प्रभुने पूर्वके हेतुओंको गौणतामें रखकर मात्र मनुष्यके वास्तविक और सच्चे हित की ओर विशेष लक्ष रखा था और जितना उनसे बन पडा उन्होंने अपने अनुभूत सुखदाई सिद्धान्तोंको जन समाजके हृदयमें गहराइके साथ अङ्कित करनेका उद्योग किया था। आज हिन्दके चारो कोनोमें संख्याके बलमें श्रद्धा रखनेवाले गोशालेका अनुयाई ढूंढे नही मिलता और अब उसके सिद्धान्त सम्बन्धी कुछ भी चिन्ह अवशेष नही बचा है तब मात्र जन हितकी चिन्ता करनेवाले प्रभुके * अनुयायी लोगोंकी संख्या कमसे कम पंद्रहरा

---

* यह खारवेलके समयमें भारतका राष्ट्रीय धर्म था यह इतिहाससे सिद्ध हो चुका है और अनेक राजाओंके कालमें यह राष्ट्रीय

काल अभी मौजूद है जब कि बुद्ध जैसे एक समयमें (अशोकके कालमें) समस्त हिन्दमें पर धर्म चक्रको विस्तारित करनेवाले दर्शनको आज हिंदमें खड़े रहनेका स्थान नहीं है तब जैन अपने धर्मकी भावनाकी गहराइके बलसे अनेक विरोध और विकट प्रसङ्गोंके बीचमें अभी तक दृढतासे अपने पैरोंको जमा कर खड़ा है इसका कारण मात्र प्रभुके उपदेश शैलीका ही था उनकी वाणीके अतिशयके सम्बन्धमें जो कुछ शास्त्र कहते हैं वह उनकी उपदेश शैलीका प्रभाव दर्शानेका मात्र प्रयत्न है।

एक समय प्रभु अपनी चरणान्याससे पृथ्वीको पावन करते २ राजग्रहीमें आये। वहाँ उन्हे गोशाला नामक एक मनुष्य शिष्य होनेकी ईच्छासे मिला। उस समय तक प्रभु किसीको शिष्यका करना नहीं स्वीकार करते थे। जहाँ तक मनुष्य अपना सर्वोत्कृष्ट कल्याण नहीं साध सकता है तब तक वह दूसरेका दारिद्र नहीं हर सकता है। प्रभु इन बातोंको सम्यग् तौरपर जानते थे अतएव उन्होंने गोशालाकी प्रार्थना स्वीकार नहीं किया तो भी वह प्रभुके सहवासको नहींछोड़ता था। वह अपने आप महावीरमें गुरू बुद्धिको स्थापित कर भीक्षा द्वारा प्राणवृत्ति करता था। उस सत्यकी कुछ जीज्ञासा थी। वह आत्मशक्तिके विकाशके लिये योग्य पुरुषार्थ करनेको तत्पर था। तो भी जिस समय प्रभु उपदेशके कार्यसे विमुख थे उस समय गोशाला महावीर प्रभुके पास अपने आप आया था और उसने जो बोध प्रभुसे अपने मनो कल्पनाद्वारा

धर्म रह चुका है। स्वामी दयानंद जो कि हरएक धर्मका कट्टर द्वेषी था उसने भी एक जगह लिखा है कि एक वह समय था जब जैन धर्मके माननेवालोंकी संख्या ४० करोड़ थी। अनुवादक।

ग्रहण किया था वह बिलकुल एक तरफी था जो आखिरमें अनिष्ट निकला। अपनी मति कल्पना और अज्ञानसे जो कुछ ग्रहण किया जाता है वह अक्सर अहितकर हो जाता है। उसके लिये गोशालकका एक योग्य दृष्टान्त है। वह कभी २ भाविके बननेवाले प्रसङ्गोंके विषयमें पूछा करता था और प्रभु जो कुछ उत्तर देते थे उनको वह योग्य मानता था और उन्हीके आधार पर उसने यह निश्चय कर लिया कि जो कुछ बननेवाला है उसमें मनुष्यका प्रयत्न किसी कालमें कुछ नहीं कर सकता है और यही 'नियतिवाद' अनेक कारणोंसे उसके हृदयमें दृढ हो गया जिसको उसने जीवन पर्यन्त माना और इसी कारणसे वह थोड़े ही वर्षों बाद जैन धर्मसे विमुख हो गया और अपने स्वच्छंदको विस्तारित करने लगा। यही मुख्य कारण था जिससे उसके असल निंद्य स्वरूपको जैन ग्रन्थकारोंने दर्शाया है हम यहाँ पर इतना जरूर कहेंगे कि वह बुद्धिमान अवश्य था इतना ही नहीं साथमें वह पुरुषार्थी भी था अतएव उसने कई तरहकी विद्याएं सम्पादन की थीं परन्तु जिस उलटे मार्गमें वह पड गया था उसीको वह अपने हृदयमें सबसे अधिक स्थान देता था। उसने अपने आप जो सिद्धान्त घडे थे वे सर्वथा जैनधर्मसे विपरीत थे। परन्तु यहांपर हमारा कहनेका यह आशय नहीं है कि उनके अंदर ग्रहण करने योग्य बातें बिलकुल नहीं थी अवश्य होगी। उसमें कुछ बातें ठीक होगी और कुछ २ लोकदृष्टिको रुचिकर भी होगी चाहे बाहिरी दिखावटी ही क्यों न हो। यही सबब था कि वह अपने सिद्धान्तों द्वारा अलग धर्मको स्थापित कर सका था। गोशालकको जिस रूपमें हमारे जैन ग्रंथकारोंने हमारे सामने रजु किया है उसी रूपमें

उसका होना स्वाभाविक है। क्योंकि पहिले वह प्रभुका शिष्य हो चुका था फिर उनको छोडकर उनका प्रतिपक्षी हो गया और उनके सिद्धान्तोंका लोप करनेका उद्यम करने लग गया, कई तरहके चातुर्य द्वारा उसने प्रभुके सिद्धान्तोंको लोप करनेका प्रयत्न किया होगा परन्तु जो सत्य [illegible] अनन्य ठहरते हैं। वे ज्योंका त्यों [illegible] हैं। सत्यके आगे झूठ कभी नहीं टिक सकता। श्री [illegible] कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यने गोशालाका जो वर्णन किया है उसपरसे यह साफ मालूम होता है कि [illegible] ठीक वैसे ही होंगे [illegible] ने अपने तप शक्ति [illegible] के द्वारा [illegible] अनुया- यी [illegible] लगा वह [illegible] ? उसको [illegible] द्वारा उसने [illegible] भी [illegible] है वह [illegible] प्रभुका [illegible] और उनपर [illegible] वे ध्यानसे विचलित हो हो जाय।

[illegible] किया यहां पर [illegible] ध्यानमें मग्न थे। [illegible] एक अवगुण था [illegible] मजाक किया करता था और

---

* इस पुस्तकके मूल लेखक श्रीयुत सुशीलने अपने मूल पुस्तक गुजरातीमें लिखा है कि उस समय बौद्ध ग्रन्थोमें ये बातें नहीं प्रतित होतीं। इसका साफ और स्वच्छ उत्तर यही है कि उसको जितना द्वेष जैन धर्मसे होगा उतना बौद्धोंसे न होगा और न यह अधिक उनके प्रसङ्गमें आया होगा जितना कि महावीरके प्रसङ्गमें आया है और वह महावीरका ही शिष्य था।

शान्त मुनियोंको दुःख देता था अतएव उसने वहां पर भी प्रभूकी मजाक की। उन पर कई पत्थर आदि फेंके और बहुत उपद्रव किया। इससे साफ विदित होता है कि उसमें अपूर्णता अधिक थी अतएव उसका मनोबल निर्बल था और इस निर्बलतासे ही उसने अपना नया मत स्थापित किया था। अपूर्णताकी वजहसे वह अपने सिद्धान्तोंको इतने अधिक अच्छे नहीं बना सका जिसको मनुष्य बिना किसी शंकाके ग्रहण कर लेता। यही कारण है कि आज उसके [illegible] प्रवर्तित आजीवक मत हिन्दमें लुप्त हो गया और उसके मुख्य [illegible] विषयमें भी कुछ अवशेष नहीं रहा और न [illegible] थे? [illegible] हम अवश्य कहेंगे कि [illegible] समय तक [illegible] प्रो० (Prof. Kern) का [illegible] अपने [illegible] महावीरका [illegible] श्रेष्ठ [illegible] विषयमें मनोरंजन नामक [illegible] लिखता है—

"The history of the Ajivkas reveals the [illegible] of animal life was not [illegible] Budhism alone but the [illegible] Sakya [illegible] shared it with the Agivkas and the Nigranthas They had some tenet in common but differed in detail . . .The vere naked monks practising severe penances. We find Ajivkas an influential sect in exsitence even in the life time of Buddha. Mokkali Gosala was the teacher of the Ajivkas with

whom Gautam Buddha had a religion controversy.

अर्थात्:—आजीवकोंके इतिहासमेंसे हमें एक जानने योग्य बात मिलती है। जीवदया मात्र एकला बुद्धका ही सिद्धान्त नहीं था परन्तु आजीवकों और निग्रन्थों (जैनों) का भी यही सिद्धान्त था। अक्सर नियम इन सबके साधारण थे, मात्र वृतान्त और आख्यामें ही अन्तर था। आजीवक लोग शरीरसे नग्न रहते थे और बहुत तपश्चर्या करते थे। हमें इतिहाससे मालुम होता है कि आजीवक संप्रदाय बुद्धके वक्तमें एक प्रभाविक संप्रदाय था। मंखली गोशाला उनका नेता था और उसके साथ गौतमबुद्धको धार्मिक झगडेमें उतरना पडा था।

वर्तमान इतिहास अन्वेषण परसे मालुम होसकता है कि गोशाला एक प्रवर्तक था। परन्तु किसी कारण वशात् महावीर प्रभुके साथ मतभेद होगया अतएव वह पीछेसे उनका विरोधी होगया और इस मतभेदसे उस समयके महावीरके अनुयायीओंमें गोशालाके प्रति विरोधताका रंग लग गया होना चाहिये और यही रंग सांप्रदायिक परम्परासे क्रमगत होगया होगा और आखिरमें जब जैन सिद्धान्त लेखारूढ हुए तब उनमें इसको स्थान मिल गया होगा।

जब प्रभुने दीक्षा लेने पश्चात् आठ चातुर्थ पूर्ण किये और आठवा चतुर्थ मास भी राजग्रहीमें ही पूर्ण किया। पश्चात् प्रभुने अपनी परिचित भूमिकाका त्याग ही अच्छा समझा अतएव वे मित्रो, स्नेहीजनों और नित्य परिचानमें आनेवाले मनुष्योंके संसर्ग रहित प्रदेशमें विचरने लगे। अब तक प्रभु जहां २ विचरे थे वे सर्व प्रदेश उत्तम आचार विचारवाले मनुष्योंसे भरे थे। स्वयम् प्रभु एक राजपुत्र थे उन्होंने

जिस वयसे यह चारित्र गठित किया था उस वयमें पामरसे पामर मनुष्यको भी इन्द्रिय विलासका स्वाद मधुर लगता है। उसी वयमें उन्होंने संसार—त्यागका भीषण व्रत अंगीकार किया था इससे उनके कीर्त्तिकी सुवास वसंत अनिलके सदृश दश दिशामें विस्तारित हो गई थी। उस समयतक प्रभु जिन२ स्थानोंमें विचारे थे वहाँ पर उनका योग्य सन्मान और आदर हुआ था। हमारे जैन ग्रन्थकार बताते हैं कि इसपरसे प्रभुने यह विचार किया कि अभी मुझे बहुत कर्मोंकी निर्जरा करना बाकी है और निर्दयी लोगों द्वारा शरीर कष्टका अनुभव किये बिना उन कर्मोंकी निर्जरा नहीं होगी। अतएव उन्होंने अनार्य भूमिमें विचरनेका निश्चय किया। प्रभुके चित्तमें उस समय क्या भाव होगा उसको कोई नहीं जान सकता। परन्तु इतना तो निश्चित है कि उनके आदरभूत इन प्रसङ्गोंमेंसे हमारे लिये एक उत्तम शिक्षण उपलब्ध होता है। उस समय प्रभुकी आत्म-अवस्था तो ऐसी थी कि अत्र तत्र और सर्वत्र उनका चित्त समाधान-मय ही था। उनकी तमाम चर्या उदयाधीन और आत्म प्रतिबंध रहित थी। आर्य अथवा अनार्य उभय क्षेत्रोंमें उनका मन एकसा था। उन पर कोई पुष्पको चढावे अथवा कोई अपमान अथवा कीचड फेंके तो भी उनका उभय आचरण जरा भी न्यूनाधिक नहीं था और न होनेवाला था तो भी प्रभु अपने परिचित प्रदेशको छोड़कर अज्ञात स्थानोंमें गति करनेको उद्युक्त हुए थे यह मात्र जगतको दृष्टान्तमय होनेके लिये ही था। खुदने जो आठ वर्षकी दीक्षित अवस्थामें लोक सन्मान प्राप्त किया था इससे सामान्य अन्तःकरण सुलभ अभिमानकी भावनामें पड़ जाता है परन्तु उनके हृदयमें उक्त

भावना जरा भी प्रकट नहीं हुई थी। कारण कि प्रभु तो उस बाल-भूमिको बहुत कालसे उल्लंघ चुके थे। परन्तु हमारे भावी अनुयायी दीक्षित वर्गको चाहिये कि प्रभुके दृष्टान्तका अनुकरण करके जहाँ उनको सन्मान मिले और परिचित संयोगोंकी प्राप्ति हो वहाँ ही न पडा रहे परन्तु सर्वत्र अत्र तत्र विहार करे। दीक्षितोंकी विचरण क्रिया सम्बन्धी एक सबल उदाहरण पूरा करनेके लिये वे आर्य और सभ्य समाजके निवास हदको उलंघकर जहाँ अधम और निकृष्ट प्रकृतिके लोग बसते थे वहाँ गये। संसारका सम्बन्ध छोड़े पश्चात् मोहके प्रबल निमित्तोंमें वसनेसे तो यही अच्छा है कि ससार त्यागका बाहिरी प्रवेश धारण करके स्व और पर आत्माको प्रवचनामें नहीं डालना ही अधिक अच्छा है। जगत्की प्रशंसा ही एक प्रबल वेगवाला प्रवाह है कि उसके पुरमें आये बाद बुद्धिमान भी अपनी सच्ची अवस्थाका मान भूल जाते हैं। यदि हमारे अंदर गुणोंकी कमी हो तो बाहिरी वेषसे अनुरंजित समाज उनको हमारे ऊपर आरोपित करता है और वह मुग्ध मनुष्य बहुत करके उस आरोपकी चमकसे अंधा होजाता है और उसको अपने अंदर स्वीकार कर लेता है इससे जगत्के अंदर एक महान् प्रतारणाका तत्त्व दाखिल होचुका है। आफतसे रक्षण करना यह एक सुकर और सुखसाध्य विषय है परन्तु प्रशंसासे बचना यह अत्यन्त दुष्कर और विषम है। अभिमानके दाखिल होनेके द्वार आत्माके हरएक प्रदेशमें होते हैं और जब यह आत्मामें भर जाता है तब आत्माके अंदर वायु भर जानेसे जैसी आत्माकी स्थिति होती है ठीक उसीके सदृश संचिवा आत्मामें

पैदा होजाता है। इससे वह मनुष्य आगे गति करनेसे रुक जाता है। इधर उधरके मनुष्योंके स्तुतिरूप वजनदार माला उसके गलेमें मुश्किलसे निकलती है। आखिरी किस दर्जेको बुराई तक वह आत्मा खिंचा जाता है उसको हम यहाँ निश्चित नहीं कर सकते। इस समय मुख्य करके इस तात्विक मर्मका लोप हुआ मालुम होता है। आक्षेप करनेका हेतु नहीं है और ऐसा करनेका हमारा अधिकार भी नहीं है। परन्तु इतना तो कहना अनुचित नहीं होगा कि प्रभुका अनार्य भूमिमें विचरण मात्र परिचित क्षेत्रमें विचरते हुए मुनियोंके सार ग्रहण करने योग्य है। अनार्यमें जाना ही लोग उपसर्ग क्षेत्रमें प्रभुका जाना मानते हैं परन्तु ये असलमें भी नहीं है परन्तु वे सन्मान, स्तुति और सत्कार अनुकूल उपसर्गोंसे बचनेके लिये गये थे। स्वके प्रति उद्‌भवित प्रतिकूल आचरण यह मात्र उपसर्ग नहीं परन्तु जिसके परिणामसे आत्मा शरीरमें गहरा उतर जाय वही सच्चा उपसर्ग है और बालहृदयके लिये स्तुतिजन्य अभिमानसे अनिष्ट कुछ नहीं है। ये बात अपशयमें प्रभुके हृदयमें होनी चाहिये नहीं तो उन्हें अपने वर्त्तनसे जगत्‌को कौनसा बोध पूरा करना इष्ट होता? तीर्थङ्करके जीवका एक बनाव भी निर्हेतुक नहीं होता उसके एक सूक्ष्मसे सूक्ष्म व्यतिकरमें भी कुछ गहरा मर्म होता है और प्रभुके आर्य क्षेत्रमें विहाररूपी वर्त्तनसे ऊपर बताई हुई सिद्धियों सिवाय अन्य कुछ भी बोधक ध्वनि नहीं निकलती है और इसी बोधामृतको पान करनेका आशय ही होगा और हमें इसको स्वीकारना ही पड़ेगा। परिचित और श्रोतृवर्गके संकीर्ण प्रदेशकी सीमाके

आचरणका भेद न कर हमारा समुदाय प्रभुके इस आशयको सफल करेगा।

जिस समय आठवां चतुर्थ मास पूरा करके प्रभु म्लेच्छ अथवा अनार्य भूमिमें विचरे उस समय आर्य और अनार्यका भेद मात्र आचरण और सभ्यताके धोरण पर था। आर्य और अनार्य ये जो विशिष्ट वर्ग वैदिक युगमें थे वे प्राय महाभारतकी लडाई बाद लुप्त हो गये थे मात्र नामावशेषरूपमें ही रह गये थे। आर्य और अनार्य इन दोनोंका विरोधी एक नया 'म्लेच्छ' शब्द व्यवहारमें आया था। जाति और वर्ग भेद का नाश होनेसे गुण और संस्कारमें उपस्थित भिन्नता आगे आ चुकी थी और वर्गजन्य अभिमान टूटकर गुण ही उच्चताका प्रमाण माना जाने लगा था। तो भी उस समयके ब्राह्मण जाति और वर्णजन्य विशिष्टताको कायम रखनेके लिये यत्न करते थे। परन्तु कृष्ण और पांडवों जैसे उदार दृष्टिवाले पुरुषोंके प्रतापसे इस संकीर्ण भावनाको दबकर बहुत समय तक रहना पडा था। जब ब्राह्मणोंकी स्थिति संरक्षणरूक (Oorthodox Tendencies) जोरमे आती तब वर्णके भेदको आगे करनेको वे नहीं चूकते थे तो भी मनुस्मृतिकार रूढि संरक्षकको भी आर्य और अनार्यके कृत्रिम भेदपर ढांक पीछेडा करनेके वचन* लिख न पडे। इसी परसे सिद्ध हो जाता है कि जाति और वर्गजन्यके भेदपरसे जनमंडलकी भावना मंद होती जाती थी।

---

* जातो नार्यामनार्यायां आर्यादार्यो भवेद् गुणैः।

अर्थात्–आर्य और अनार्य स्त्रीके उदरसे प्राप्त संतति भी गुणमें आर्य ही है।

जिसके लक्षण उत्तम हो वह आर्य चाहे वह धार्मिक दृष्टिसे कोई भी क्यों न हो और हीन संस्कार युक्त मनुष्य 'म्लेच्छ' शब्दसे सम्बोधित किये जाते थे। अनार्य शब्द जहाँ २ काममें लिया जाता था वहाँपर बहुत करके वह अशिष्टताका ही सूचक था अर्थात् 'म्लेच्छ' शब्दके अर्थमें काममें लिया जाता था। 'म्लेच्छ' आर्य भावनाके विरोधी और द्वेषी थे और उनके हरएक कार्यमें विघ्न डालनेका प्रयत्न करते थे। प्रथम वे बहुत आर्योंकी वस्तीमें रहते थे परन्तु ज्यों २ आर्योंकी सत्ता बढती गई त्यों २ उनको दूर प्रदेशोंमें निकाल दिये गये। महावीरके युगमें म्लेच्छ बहुत करके मगध, राजग्रही, वैशाली आदि सभ्य प्रदेश समूहके पूर्व और दक्षिणमें समुद्रके किनारे बसते थे। महाभारतकी आखिरी आवृत्ति हुई तब महावीर प्रभुके काल पश्चात् करीब दो सौ वर्षमें उपरोक्त प्रदेश अनार्य प्रदेशके तौरपर पहिचाने जाने लगे×। ये म्लेच्छ प्रदेश आर्य प्रदेशसे बहुत दूर नहीं हैं और ऐसा ही हमें प्रतीत होता है!

× The Dravidians and the Vangas in the farthest South and the farthest east were still looked upon as non-Aryan people, which the people of Arya-varta delighted in calling themselves upon their Moral superiority to other races. (Epic India).

अर्थात्–दूरतम दक्षिण और पूर्व प्रदेशस्थ द्राविड़ और वंग (पूर्व बंगालके लोग) अनार्य गिने जाते थे और आर्यावर्तके लोग अपने आपको आर्य शब्दसे सम्बोधित करनेमें आनन्द मानते थे और दूसरोंसे अपनी आध्यात्मिक उच्चताका अभिमान रखते थे।

पूर्वमें आसाम, दक्षिणमें और पूर्व बंगालमें उनका निवास होगा यही अनुमान होता है। कारण आर्य प्रदेशमेंसे म्लेच्छोंके देशमें और म्लेच्छोंके प्रदेशसे आर्योंके देशमें प्रभु थोड़े ही अर्सेमें आ सकते थे। नववाँ चतुर्थमास अनार्य भूमिमें पूरा करके शीघ्र ही वहांसे प्रभु सिद्धार्थपुरमें आनेकी हकीकत सुप्रसिद्ध है।

इन विहारके प्रसंगोंमें गोशाला प्रभुके साथ ही था वे एक प्रसंगपर कूर्म नामक गावके नजदीक आये वहां गोशाला एक वैशिकायन नामक तापससे मिले। गोशाला उस ध्यानस्थ और सूर्यके सामने हाथ ऊंचे रखकर त्राटक किये हुए तपस्वीको उसकी क्रियाका मर्म उद्धतासे पूछने लगा तो भी मुनिने बहुत समय तक उन अपमान भरे हुए शब्दोंको सहन किये और कुछ प्रत्युत्तर नहीं दिया। गोशालाको इतने पर ही संतोष नहीं हुआ। उसने तापसके आचरणसे अत्यन्त उच्च प्रकारके तपश्चरणका प्रभुके अन्दर अनुभव किया था अतएव इस एकान्त कष्ट प्रति उसको अरुचि हो यह बात स्वाभाविक थी सभ्य और विनीत समाजके परिचयमें आर्य मनुष्यको जिसतरह जंगली मनुष्यका रहन सहन अच्छा नहीं मालूम होता है त्यों महावीर प्रभुके अत्यन्त प्रौढ चरित्र और उत्कृष्ट योगके सम्बन्धमें आनेवाले गोशालाको इस तापसकी ऐसी बाल तपस्वीताका अभिमत न हो यह भी स्वाभाविक ही था। परन्तु उसने जिस तुच्छतासे तापसको सम्बोधित किया था वह बिल्कुल अयोग्य था। उसने अभिमान पूर्वक उसको पूछा "अरे तापस! तु क्या तत्व जानता है? इस तेरी लम्बी जटासे हमें यह अच्छीतरह मालूम नहीं होता किन्तु स्त्री है या पुरुष?

गोशालाके लिये महावीर प्रभुके साथ बहुत समय तक रहनेसे यह जानना जरूरी था कि समक्ष मनुष्यपर हमला करनेसे वह अपना वर्त्तन नहीं छोड़ देता है परन्तु इससे उल्टा अपने मूल वर्त्तनके साथ अधिक लगा रहता है। चाहे जैसी अनिष्टकर वस्तु हम उसके हितके लिये सामनेवाले मनुष्यसे खिंचना चाहते हैं परन्तु वह उसको नहीं छोडता है इतना ही नहीं परन्तु हमारे इस खींच लेनेके प्रयत्नरूप वर्त्तनसे हम अपने इरादेसे उल्टा ही कार्य करते हैं अर्थात् भविष्यमें भी वह मनुष्य अपने अनिष्ट ग्राहकोंको कभी त्याग दें परन्तु ऐसा करनेसे उसको सदाके लिये त्याग करनेके समवसे भी दूर कर देते हैं। हमारा बलात्कार सिर्फ अज्ञानतासे उसको यह सिखाता है कि यह अपने वर्त्तनपर अधिक जोरसे लगा रहे। गोशालाका इरादा तापमको सम्बोधित करनेमें चाहे कितना ही पवित्र क्यों न हो तो भी मनुष्य प्रकृतिके उपरोक्त रूलको उसने अपने लक्षमें नहीं रखा अतएव उसके इस तरहके सम्बोधनसे वह तापस उल्टा अपना उपशम स्वभाव जो कि उसने बहुत समयसे सम्हालकर रखा था गुमा बैठा और अत्यन्त क्रोधायमान होकर अपने तपके सामर्थ्यसे उसने अत्यन्त उग्र वन्हिज्वाला प्रकट की और उस अग्निको गोशाला पर प्रेरित की। गौशालाका शरीर अग्निसे जलने लगा और परित्राण करनेके लिये वह प्रभुके पास आया। प्रभुने इस तेजो लेश्याके सामने गौशालाकी रक्षा करनेके लिये शीतलेश्या रखी जिससे उस अग्निका सामर्थ्य नष्ट हो गया। प्रभुकी यह शक्ति देख कर वैशिकायन तापस उनके पास आया और प्रभुकी स्तुति करने लगा और कहने लगा कि

मैं आपके प्रभावको नहीं समझ सका। इसलिये मेरा यह आचरण क्षमा करे, प्रभु तो क्षमाकी ही मूर्ति थे उनको बदला तो लेना ही हीं था।

तपके प्रभावसे उद्भवित यह अमानुषी बनाव देख कर गौशाला आश्चर्यनिमग्न हो गया। अभी तक उसने ऐसा चमत्कार कहीं नही देखा था। मात्र शान्त सुधारसमय प्रभुके अलौकिक चरित्रका ही अनुभव किया था परन्तु इस तपोबलसे प्रकाशित देवी व्यक्ति करके उसने पहिले ही पहिल देखा। उसने प्रभुके रास्तेमें चलते २ पूछा "हे भगवन्! यह तेजोलेश्या कैसे प्रकट होती है? प्रभुने उसे इसकी विधि कही। गोशालाका आज कलके सैकड़ों ९९ मनुष्योंकी नाई विधि सुनकर बैठा रहनेवाला पुरुष नही था परन्तु उसने विधिको अमलमें रख कर लब्धि प्राप्त करनेका दृढ निश्चय किया। जिस विधिसे गोशालाने यह विधि प्राप्त की यही विधि अब भी ग्रन्थोंमें उपलब्ध है मात्र कर्त्तव्यपरायण पुरुषोंकी ही कमी है।

कूर्म गांवसे प्रभु गोशाला सहित सिद्धार्थपुर गांवकी ओर गये परन्तु गोशालाकी इच्छा तेजोलेश्या प्राप्त करनेकी ओर बढती जाती थी। इधर उधरके समुदायको अनायबीमें डालनेवाली महालब्धि प्राप्त करनेकी इच्छा उसके एक २ रोममें व्याप्त हो गई। विधि तो उसने प्रभुके पाससे प्राप्त कर ली थी अतएव वह श्रावस्ती नामक गाँवमें प्रभुसे अलग हो गया और छ. मास पर्यन्त उस गाँवमें निवास करके प्रभुकी बताई हुई विधि अनुसार तपश्चरण करके तेजोलेश्याको सिद्ध की। तपके सामर्थ्यसे यह प्रभाव प्राप्त

हो सकता है इसमें कुछ भी शक नहीं है। तप अर्थात् इच्छाका निरोध। हमारे मनका सामर्थ्य इतना तो निरवधि है कि यदि यह सामर्थ्य अनेक तरह इच्छा, कामना, वासना और झगड़े टंटेमें न लगता रहे तो यह मानुषी आवश्यकीय कार्य करनेको शक्तिमान है। इच्छा (Desire) और संकल्प (Will) में अन्तर मात्र इतना ही है कि इच्छा बल अलग बिखरा हुआ होता है तब संकल्पका बल केन्द्रीभूत होकर इष्ट प्रयत्नमे ही नियुक्त रहता है। छुटी छवाइ और भिन्न२ उडती इच्छाओंकी शक्तिको संयममें रखकर उनका निरोध किया जाता है उसको तप कहते हैं। तत्वार्थसुत्रकार भी तप * के स्वरूपको इसीतरह दर्शाते हैं। व्यवहार तथा परमार्थमें विजय प्राप्त करनेका रहस्य एक ही है और वह यह है कि खराब इच्छाद्वारा नष्ट होते बलको एकत्रित करके उसको लगाना ही है। इस ओर सहज प्रयत्न करनेवालोंको हम उत्तम और उत्तम परिणाम प्राप्त करते हुए देखते हैं तो फिर गोशाला जैसा पुरुषार्थी पुरुष छ महीने तक अपनी इच्छाओंका संग्रह विधिपूर्वक कर उस एकत्रित सामर्थ्यको अग्निके रूपमें परिणमन क्यों न कर सके? इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है कि मनोद्रव्य यह अत्यन्त वेगवान और सूक्ष्म शक्ति (Fine Force) वाला है। शिक्षित संकल्पबलसे उस द्रव्यको अग्निरूपमें परिणमन कर सकते हैं।

सिद्धिको प्राप्त किये पश्चात् बहुत प्रसंगोंपर मनुष्य अपनी पूर्ववत् चित् निर्मलता नहीं रखता है उसका स्वार्थी और पशुत्वका

---

* इच्छानिरोधस्तपः

अंश स्फुरायमान हो जाता है। गोशाला इतनी सिद्धिपर ही महावीर स्वामीकी बराबरी करनेका विचार करने लगा। महावीर भविष्यमें सर्वज्ञताको प्राप्त करके तीर्थंकर होनेवाले थे यह बात वह अच्छीतरह जानता था। खुदके अंदर सर्वज्ञताकी कमी थी इस कमीको वह पूरा करनेके लिये उसने पार्श्वनाथ प्रभुके चारित्र भ्रष्ट कितनेक शिष्योंके पाससे अष्टांग निमित्त ज्ञान प्राप्त करलिया और इतनी ही योग्यतासे वह अपने आपको जिनेश्वर कहलाने लगा।

इस तरफ प्रभु विहार करते२ पेढाला गाँवके नजदीक आये वहाँपर प्रभु एक शिलातल पर जानु तक भुजाको लम्बी कर चित्तकी स्थिरतापूर्वक अनिमेषपनमें एक रूक्ष द्रव्यपर दृष्टिको जमाकर कायोत्सर्ग भावमें समाधिस्थ खड़े हो गये। उस समय प्रभुकी परम चारित्रमय अवस्था सौधर्म्य देवलोकके इन्द्रने अवधिज्ञानसे देखी और अपना हृदयगत विशुद्ध भक्तिभाव देवोंकी सभामें जाहिर किया। प्रभु तो परम अव्याबाध स्थितिको प्राप्त करनेके क्रम पर थे। इन्द्र इस बातको अच्छीतरहसे जानता था कि प्रभुकी स्थिति हमारे पदसे अनन्त गुणा श्रेष्ठ थी और महावीर प्रभुके उत्तरकालीन—भविष्यमें प्राप्त होनेवाले सुखकी कक्षा और प्रमाण और प्रमाणऐन्द्र सुखका दर्जा ही प्रमाणसे अनत गुणा उच्च था। जो सुख परिणाम अन्तमें दुःखमय है और सुखकी स्मृतिमें दुःख ही है वह सुख वास्तवमें सुख नहीं है। इन्द्र इस बातको अच्छीतरहसे जानता था अतएव उसको अपनी स्थितिमें सुखमयता मालूम होती थी। अब वह उसे नहीं मालूम होने लगी। और प्रभु जिस राहमें थे वही सच्चे सुखका मार्ग उसको प्रतीत हुआ। उसका प्रत्येक रोम प्रभुके प्रति

भक्तिभावसे पुलकित हो गया। उसने पृथ्वी पर अपना सिर लगाकर प्रभुकी चक्रस्तवसे मनोमय स्तुति की। क्षणभरमें उसके वैभवका अभिमान जाता रहा। उसको अपने दुःखी पर्यवासी वर्त्तमान सुखकी क्षणिकता खिंचने लगी। प्रभु उन्नतिकी अखिरी भूमिकाकी ओर आते थे यह देखकर उसका हृदय हर्ष और अनुरागसे गद्गदित हो गया। भक्तिमें नियमसे दो तत्त्व होते हैं— एक स्व की प्राप्त स्थितिमें अपूर्णता होकर पार हो चुके हैं उसकी सम्यग् तोरपर पहिचान। भक्त हमेशा भक्ति करते समय अपनी लघुताको स्वीकार करता है। स्थूल दृष्टिसे देखते कहाँ प्रभुका जर्जरित शुष्क रसहीन शरीर और कहाँ इन्द्र देवका पुण्य प्रतिभाके प्रभावसे सारे विश्वको मोहित करनेवाला देवी शरीर ! कहाँ प्रभुकी निर्ग्रन्थ निष्किंचन अवस्था और कहाँ इन्द्रका अवधि रहित स्वर्गीय वैभव ? चींटी जैसा क्षुद्र जंतु भी जिस निर्भयतासे रुधिरको चूस सकता है ऐसी कहाँ वीर प्रभुकी नम्रता सौम्यता और दीनता ! करोड़ों देवोंके परिवारसे परिवृत भोगकी मूर्तिरूप इन्द्र कहाँ ? परन्तु आत्मदृष्टिसे प्रभुका अधिकार इन्द्रके अधिकारसे अनतगुणा श्रेष्ठ था। ज्यों प्रकाश और अंधकारका मुकाबला बन नहीं सकता त्यों इन दोनोंके अधिकारकी भी तुलना नहीं हो सकती कारण कि उभयका स्वभाव गुण और धर्म ये सब भिन्न हैं। इन्द्रको इस अलौकिक दृष्टिका स्वरूप लक्ष्यगत था कारण कि उसके स्थूलताके पड़ स्थूल ज्ञानके प्रभावसे निकल चुके थे।

इंद्रने सभाके बीचमें ही जो प्रभुके ध्यानकी, निश्चलताकी, तथा प्रतिबंधताकी स्तुति की तब देवोंको बहुत आश्चर्य हुआ ! और

उनमेंसे एक संगम नामक दुष्ट देव प्रभुकी प्रशंसाको नहीं सुन कर और कहने लगा कि एक निर्बल मनुष्य इन देवकी इतनी प्रशंसाका पात्र कैसे हो सकता है! यह बात मुझसे सुनी नहीं जाती। प्रभुके अंतस्थ प्रभावके स्वरूपको बाहिरी दृष्टिवाला संगम नहीं समझ सकता था। अतएव वह कहने लगा—अतुल और अमित पराक्रम युक्त है और हमें जन्मसे प्राप्त सिद्धियोंके आगे एक क्षुद्र मनुष्यकी क्या गिनती है? यह विचार कर वह गर्जता हुआ प्रभुके पास आया।

संगमने प्रभुको छः महीने पर्यन्त जो असह्य कष्ट दिया था उसका वर्णन पढते २ हमारा हृदय कांप उठता है। अनेक तरहके महातीव्र और विषयुक्त जंतु पैदा कर उनके द्वारा प्रभुको कष्ट देनेमें कुछ भी कमी नहीं रखी परन्तु उस निष्कार जगत् बंधुके आखोंमें जरा भी क्रोधकी ललाई नही दिखाई दी। जो प्रभु एक संकल्पके स्फुरण मात्रसे सारे विश्वको विखेरनेको समर्थ थे वे ही प्रभु संगमकी धृष्टताको आत्मामें कुछ भी खेद किये विना अव्यग्र भावसे सहन करते थे, कारण कि सहना यही उच्चगामी आत्माका महाव्रत होता है। कर्मफलदात्री सत्ताके महानियमकी गतिमेंसे छूटनेका प्रयत्न करना व्यर्थ है। इन विषयको प्रभु अच्छी-तरहसे जानते थे। इस विश्वमें किसी भी तरहका जो कष्ट होता है उसके कारण आत्मा पहिलेसे ही गतिमें रख देता है। विना कारण कार्य नही हो सकता। संगमने प्रभुको इतना दारुण घोर परिषह दिया। यह क्या निष्कारण था? नहीं! नहीं था। प्रभुने पूर्वमें इसके लिये कुछ अवश्य किया होगा। एक क्षुद्र जंतुको अथवा उस महान् महान् कोटिके मनुष्य अथवा देव पर्यन्त जिसको सुख

दुःखादि प्राप्त होते हैं उनके सुख दुःख उनके पूर्वकी योग्य अथवा अयोग्य कृतिसे ही मिलता है। सुख दुःखके कारण उनके कर्मके सिवाय दूसरे कुछ नहीं होते। कृतनाश और अकृत आगमका अंधा नियम कर्म फलदात्री सत्ताके यहां नहीं चल सकता क्योंकि वहां अंधेर नहीं है और यह अनादि सिद्ध नियमका उल्लंघन करनेको देव, दानव, मनुष्य अथवा ईश्वर भी समर्थ नहीं है। कभी हमें निर्दोषको दुःख और सदोषको सुख मिलता मालूम होता है परन्तु यह मात्र अपने अल्पज्ञताका ही परिणाम है। जिसको जब२ शुभाशुभ परिणाम मिले हैं उसके लिये वे लायक थे तब ही मिले हैं। विना कसूरके न्यायाधीशके हाथसे फाँसी देनेके कईएक उदाहरण बनते हैं। यह सामान्य कहावत है कि वह मनुष्य फाँसीके लिये अयोग्य था परन्तु वह मारा गया यह नही होसकता। कौनसा कर्मफल कब और किस तरह मिलता है उसको हमारे चर्मचक्षु नहीं देख सकते है। इसलिये हम अकेले होकर बोल उठते हैं कि वह बेचारा निर्दोष था परन्तु मारा गया।

यह हमारे स्मृतिमें होना चाहिये कि इस विश्व व्यवस्थामें एक तिल मात्र भी अंधेर नही निभ सकता है। प्रत्येक मनुष्यको जो सुख अथवा दुःख मिलता है उसके लिये वह योग्य ही है इसलिये वह उसको मिला ही करता है। सृष्टिके आदिसे आज तक एक भी मामला ऐसा नही हुआ कि जो कारण बिदून हुआ हो अथवा होने योग्य न हो और हुआ हो। फांसी पर लटका जानेवाला, तोपके मुँहसे उड़नेवाला, तलवारसे कटकर मरनेवाला, जलके बहावमें मरनेवाला और अग्निमें मरनेवाले आदि इन सबकी

मृत्यु अपनी २ कृति द्वारा ही उपार्जित होती है इस अप्रतिहत कर्मके नियमसे आत्माका रक्षण करनेको कोई भी समर्थ नहीं है।

संगमके निमित्त द्वारा प्रभु अपने उपस्थित कष्टका वास्तविक कारण जानते थे अतएव उन्होंने संगमपर क्रोध नहीं किया। वह बेचारा कर्मके महा नियमका हथियार था। कष्टके कारणोंको प्रवृत्तमान करनेवाले वे खुद थे। इस परसे साबित होता है कि क्रोधका करनेवाला अपना आत्मा ही होना चाहिये। पहिले (पूर्व भवमें) खुदमें खुदके ही गतिमें रखे हुए कारण फलरूप होनेमें संगम तो मात्र साधन ही था और इमसे वह प्रकृतिका हेतु सिद्ध करनेमें मददगार था। हम प्रभुकी स्तुति करते हैं वह इसलिये कि उपरोक्त नियमोंको लक्ष्में रखकर एक प्राकृत मनुष्यके सदृश संगमपर वे कोपायमान नहीं हुए थे और अव्याकुलतामें गतिमान हुए। कारणोंको अपने आत्माके भोग द्वारा उनको क्षय करनेमें समर्थ हुए। इस अवसर पर एक सामान्य मनुष्य क्या करता? और प्रभुने क्या क्या किया? इसकी जब हम तुलना करते हैं तब प्रभुकी परम अव्यग्र और अनाकूल चित्तकी स्थिति प्रति हृदयका विशुद्ध भक्तिभाव स्फुरायमान हो जाता है बनने योग्य है इसलिये ही बना है' यह इतना अधिक प्रसिद्ध है कि चाहे कितना ही अज्ञान मनुष्य भी इससे अवश्य परिचित होगा और यह बात उसके जाननेमें अवश्य होगी। परन्तु इस प्रकार बहुत ही थोड़े वीर आत्मा इस नियमके ज्ञानको सफल कर सकते हैं? धन्य है महावीर प्रभुको जिन्होंने इन विकट प्रसंगोंपर भी धैर्यका त्याग नहीं किया और संगमकी ओर अखीरतक सम-

भाव ही रखा और कर्मकी उदयमान गति प्रति उन्होंने अपने द्वेषका प्रत्याख्यान न किया, अखीरतक चित्त समस्थितिको कायम रखी। यदि वे चाहते तो संगमके प्रसंगसे क्रोधायमान होते, इतना ही नहीं परन्तु संगमको उसकी निर्दयताका बदला दिया होता परन्तु यहाँ ही प्रभुको प्रकृतिके महा नियमके सामने संगमसे बड़ी बलवान सत्ता रोकनी पडती। जहाँतक ऐसा अवसर नहीं प्राप्त होता वहाँतक प्रभुको उसका बदला लेनेके लिये संसारमें रहना पड़ता। उसके साथ२ कुदरतके यह नियमकी गतिमेंसे छुटनेके प्रयत्नमेंसे अन्तर्गत चित्तकी स्थिति रागद्वेष युक्त उपस्थितिसे ही उसका आत्मसामर्थ्य भी घट जाता और इनसे अपनी प्राप्त विशुद्धिको एकदम खो बैठते। ज्ञानी जन इस बातको अच्छीतरहसे देखते हैं कि लाभ किसमें है ? संगमके परीषहसे बचनेमें जो उन्होंने लाभ देखा होता तो ऐसा कहना उनके लिये बड़ा सुलभ था परन्तु आखीरमें ऐसा करनेसे उनको कितना गैरलाभ होता। इसके बारेमें हम ऊपर पढ आये हैं। प्रभुका प्रभुत्व संगमके उपसर्ग समभावसे सहनेमें ही समाया था। जिस समय संगमद्वारा प्रभुपर भिषण कष्टकी वर्षा हो रही थी उस समय इन्द्र भी इस कष्टसे अज्ञात न था और यदि उसने चाहा होता तो संगमके कष्टसे प्रभुको बचाये होते। परन्तु ऐसा नियम है कि उच्च श्रेणिगत आत्माकी इच्छाका सारा बिम्ब अनुकरण करने लगता है। प्रभुकी इच्छासे इन्द्रकी इच्छाका विरोध नहीं हो सकता था यह सब कुछ इन्द्र देखता था और भक्तिके बाहुल्यसे उसका हृदय अत्यन्त दुःखी था। परन्तु कर्मकी गतिको उसके एक तनु पससे भी हटानेको

वह अशक्त था। उसने संगमके उपसर्गसे प्रभुको बचानेका कुछ उपाय किया होता तो उल्टा प्रभुको उनका पूर्णत्व प्राप्त करनेमें वह अन्तरायभूत होता इसलिये निरुपाय दुःखित चित्तसे इन उपसर्गोंकी पराम्पराको उसके लिये देखना ही बदा था और दूसरा उसके पास कोई उपाय नहीं था।

संगमने प्रभुको जो कष्ट दिये थे उनमेंसे हमारे लिये एक अत्यन्त सुदर शिक्षण उद्भवित होता है। आदर्श पुरुषोंके जीवनमें सबसे अगत्यका शिक्षणीय विभाग मात्र ही उनके महत् कर्त्तव्य नहीं हैं। परन्तु उनके छोटे परोक्ष प्रसंग भी अत्यन्त बोधदायी होते हैं। संगमने प्रभुको जिस क्रमसे क्लेश दिया था उसपरसे मालूम होता है कि वह मनुष्यके हृदयके गुह्य मर्मोंका उत्तम ज्ञाता होना चाहिये। प्रथम उसने प्रभुको ध्यानसे भ्रष्ट करनेके लिये शारीरिक वेदना देना शुरू किया और ज्यों २ उसमें वह निष्फल होता गया त्यों २ वेदनाको प्रबलतर और तीव्रतर करने लगा। मनुष्यकी कल्पक-शक्ति विनाशके जो २ साधन योजित कर सकती है उसने उन सबको प्रभुके ऊपर लगानेमें कुछ भी कमी नहीं रखी। आखीरमें एक लोहेका भारी वजनदार गोला उठाकर उसको प्रभुके सिरपर फेंका। इसपर यह प्रसिद्ध है कि उसके आघातसे प्रभु जानु पर्यन्त पृथ्वीमें घुस गये। इस परसे भी उनके दिव्य तनुको हानि नहीं पहुँची। तब यदि उस स्थानपर संगमसे न्यून मतिप्रकर्षवाला देव अथवा मनुष्य होता तो अवश्य निराश होकर वापिस आता। परन्तु संगम मनुष्यके अन्तःकरणका गहरा अभ्यासी था। मनुष्यके

हृदयकी निर्बल बाजुओंको वह पहिचानता था। कौनसे मर्मका आश्रय लेनेसे सामान्य मनुष्य अपने वशीभूत होगा आदि रहस्योंको वह भली प्रकार जानता था। अक्सर महान् मनुष्योंके भी हृदयके कुछ अंश निर्बल और स्पर्शवेद्य होते हैं। यदि उसका उस ओर स्पर्श किया जाय तो वे शीघ्र ही हार जाय। जब संगमने यह मालूम किया किकष्टसे प्रभु अपने क्रमपरसे चलित नहीं होंगे तब उसने प्रभुके शरीरपरसे अपना व्यापार छोड़ दिया और मानस प्रदेशपर अपनी युक्तियाँ अजमाने लगा और उसके साथ २ उपसर्गोंका स्वरूप भी बदल दिया। उसने देखा कि कष्ट वा असाताका जोर प्रभुको जीतनेमें समर्थ नहीं हैं। इसपरसे उसने यह निश्चय किया कि प्रतिकूल और दुःखद उपसर्ग देनेसे मनुष्य उल्टा अधिक उन्मत्त और सावधान हो जाता है और अपने व्रत अथवा वर्चसको कायम रखनेके लिये चतुरतासे बचाव कर लेता है। यह प्रत्यक्ष सत्य है कि प्रत्यक्ष सामने हमला करनेसे दुश्मन सम्हल जाता है और बचाव बहादुरी और होशियारीसे कर सकता है। इसपरसे संगमने अनुकूल उपसर्गोंका मार्ग पकडा। यह उपसर्ग ऐसा था कि वहां प्रभुसे कुछ न्यून हृदयवाला तथा न्यून शक्तिवाला होता तो वह उसके जालमें अवश्यमेव आजाता। संगमका प्रयत्न प्रभुको उनकी परमात्म स्वरूप प्रतिकी एकतामेंसे भ्रष्ट करनेका ही था और इसलिये उसने इन अनुकूल उपसर्गोंको आखिरमें प्रबलतासे परीक्षा करनेके लिये रखे थे। वह यह बात अच्छी तरहसे जानता था कि दुःखके प्रसङ्गमें दृढ रहनेका मनुष्य हृदयका वेग स्वाभाविक होता है परन्तु सुखके उपकारणमें और प्रलोभनोंकी सामग्रीसे

परिवेष्टित स्थितिमें वह बहुत सरलतासे ठगा जाता है। इन्द्रिय सुखोंके सुभीतेमें एक और प्रबल आकर्षक शक्ति है कि दुःखके प्रसङ्गोंमें अधिक मनुष्यका हृदय उसमें फस जाता है। दुःख मनुष्यको मजबूत और टट्टार रख सकता है परन्तु सुख उसको निर्बल और नालायक कर देता है। प्रतिकूल सयोगमें जो अपनी टेक और प्रतिज्ञाको सम्हाल कर रखते हैं वे अनुकूल संयोगोंमें अति शीघ्र ही अस्थिर मनवाले होजाते हैं और व्रत भ्रष्ट होजाते हैं इसके उदाहरण मौजूद हैं। दुःखके संयोगोंमें एक ही कर्त्तव्यके लिये अनुकूल स्थिति है इससे प्रतिकूल उपसर्गोंमें अपने उद्देशमें निष्फल संगमने अब अनुकूल उपसर्ग रचने शुरू किये। उसको सम्पूर्ण विश्वास था कि विषयके स्वरूपकी मोहक मिष्ठताके सामने मनुष्य प्राणीकी शक्ति नहीं कि आखिरमें वह जालमें आये विना न रह सके। अढाई वर्ष पहिले भी स्पर्श इन्द्रियक विषयका आकर्षण जनहृदयपर जितना आज प्रबल उतना ही प्रबल था। संगम यह जानता था कि चाहे कैसा ही मनुष्य क्यों न हो वह विषय सुखका गुलाम हो जाता है और सब विकट प्रसङ्गोंमें निश्चल और अडग वीर नर भी इन्द्रियके विलासका रस चूसने लग जाता है। आत्मा अनादिकालसे इन्द्रियके विकारमें कुछ ऐसा विलक्षण माधुर्य अनुभव करता है कि एक दफा उसकी मर्यादाके अंदर आने पश्चात् उससे छूटनेका संभव अधिक अधिक न्यून होता जाता है। एक दफा उस विचारमें मन चिपक जाता है फिर उसमेंसे उसके लिये उड़ना मुश्किल होजाता है इसलिये प्रभुके सच्चे भक्त सदा दुःखी अवस्थाको ही पसंद करते

हैं। जो महात्मा परमात्मस्वरूप प्राप्त करनेको समर्थ हैं, उनके लिये इस तरहका वैभव प्राप्त करना बड़ी बात है परन्तु उनकी ईश्वर प्रति सबसे पहिले यही प्रार्थना होती है कि हे नाथ! मैं दुःखमें अपना स्वत्व सम्हालनेको समर्थ हूँ परन्तु अनुकूल और वैभवयुक्त स्थितिमें कदापि मैं मेरा वृत्त गुमा बैठूं। मुझे इस बातका ही सतत् भय है इसलिये मुझे इस परिस्थितिसे बचा लो। संगम इस निर्बलताके स्वरूपको जानता था और आखिरके प्रयत्नरूप उसने प्रभुको विषयके माधुर्यकी ओर खीचकर उनका योग भ्रष्ट करनेकी तजवीज करने लगा। प्रथम उसने अपनी दैवी सत्तासे वृक्षलता, व फूलको प्रफुल्लित की और पत्रपुंजसे वृद्धिको प्राप्त विपुल वसन्त-ऋतुको पैदा की, साथ २ अपना प्रचंड साहस प्रकाशित करने लगा और ललित ललना कुलके वदन कमलोंका अनुसंधान किया इतनाही नहीं परन्तु साथमें रति पति भी प्रकट कर दी। अपने अनुपम सौंदर्य-की भ्रकुटीसे विश्वको विमोहित करनेवाली अनेक रमणिएँ प्रभुके चारो ओर फिर गई और रास मंडलको जमालिया। विविध हाव-भाव, नये २ दृष्टिभाव और मोहक अंग विक्षेपसे वे अपने सुरत संकेतको विस्तारित करने लगीं। विविध तरहके मिषोंसे वे अपने वस्त्रोंको चलित करती थीं और शिथिल केशपातको सुदृढ़ करनेके बहाने वे अपनी भुजाओंको ऊंची करके प्रभुको विमुग्ध करनेका जाल बिछाने लगी। किसी बालाओंने मन्मथके विजयी मंत्र शास्त्र जैसा दिव्य संगीत गाना शुरू किया और कोई प्रभुको गाढ़ आलिंगन देकर दीर्घकालके वियोग जन्य आतापको शान्त करनेकी चेष्टा करने लगी। परन्तु संगमको यह खबर नहीं थी कि जिस आत्मापर

वह अपनी सब युक्तियोंकी अजमाइश करता था वह कोई साधारण सन्यासी अथवा संसारसे भगा हुआ भीरु मनुष्य नहीं था। संसारके इन्द्रजालमें ठगे जानेवाली भूमिकाको वे बहुत कालसे उल्लंघ चुके थे। विषयोंके सामर्थ्यको पराजयको तो उन्होंने संसारमें ही साधा था, पश्चात साधु हुए थे। संगमका आखिरमें कुछ नहीं चला। वह प्रभुको चलित करनेकी अपनी प्रतिज्ञामें आशाभग्न हो चुका। उसने देखा कि प्रभुके चित्तका एक भी अंश निर्बल नहीं कि जिसके द्वारा वह उनके अंदर प्रवेश करके उनका योग भ्रष्ट कर सके। महा पुरुष अपने वर्चसके रक्षण के लिये पहिले तो विषयके दाखिल होनेके सब द्वार बंद कर देते हैं। वे जानते हैं कि किलेमें एक स्थान पर फाड पड गया तो सारा दुर्ग विना गिरे हुए नहीं रहेगा। वे नित्य अप्रमत्त उपयोगसे अपनी विशुद्धिका रक्षण करते रहते हैं। उनको आसक्तिके स्वरूपका ऐसा सूक्ष्म ज्ञान होता है कि मोहिनी मैया चाहे जैसा वेश धारण करके उनके अन्तर द्वारमें प्रवेश करनेका मार्ग शीघ्र लेती तो भी वह उसमें विजय प्राप्त कर सकती। परन्तु महावीर प्रभु तो महान् कोटिके पुरुषवर्य थे। संगमकी ये युक्तिएँ बिन अनुभवी और कच्चे योगी पर सफलता कर सकती थी। परन्तु प्रभु पर उसका सब उद्योग निष्फल गया। वह म्लान और आशाभग्न मुँहको छिपाकर अपने स्थान पर चला गया।

इसपरसे हमें यह स्पष्ट मालुम होता है कि अनुकूल संयोगोंमें हमारी विशुद्धिका संकल्प निभाना, प्रतिकूल संयोगोमें निभानेसे अधिक तर मुश्किल है। जो इन प्रलोभक प्रसंगोमें अपनी

विमलताको सम्हाल्ते हैं वे ही सच्चे विजयवान और सामर्थ्यके सच्चे दृष्टान्त हैं। विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥

प्रभु वहांसे विहार करतेर एक दफा वैशालीमें आये। वहां एक जिनदत्त नामक दयालु और सद्गुणी श्रावक रहता था वह गरीब था, उसकी लक्ष्मी जीर्ण हो चुकी थी अतएव लोग इसको जीर्ण श्रेष्ठी कहते थे। उसको प्रभुके आगमनकी खबर हुई अतएव वह उसी उपवनमें गया जहां कि प्रभुका वास था। वहां जाकर उसने अत्यन्त भक्तिसे द्रवित हृदयसे प्रभुकी स्तुति की। उसकी भावना यह थी कि एक दफा प्रभु उसके यहांसे आहार ग्रहण करे और उसकी इच्छाको पूर्ण करे। उसने इसी उद्देश्यसे अपने यहां प्रासुक और अपनी सम्पत्ति अनुसार उत्तम भोजन तैयार रखे। प्रभु इस समय दीक्षा लेनेके पश्चात् विशाला नगरीमें अपने ग्यारहवें चतुर्थमासको निर्गमन करते थे और इस चतुर्थमासमें उन्होंने चार मासके उपवासका व्रत ग्रहण किया था। व्रतकी सीमा उसी दिन पूर्ण होनेवाली थी। जिनदत्त शेठ उत्तम भोजनकी सामग्रीको तैयार करके बैठा था और अत्यन्त औत्सुक्य-भावसे प्रभुके आगमनकी राह देख रहा था। प्रभु आज मेरे यहाँसे भोजन ग्रहण करके मुझे कृतार्थ करेंगे आदि गहरे मनोभावोंसे वह विचार करता था। परन्तु इसके दुर्दैवसे अथवा और किसी कारण-वशात् प्रभु उसके यहाँ नहीं गये। इस समय उस शहरमें एक दूसरा नगरसेठ था जो बडा धनिक था। द्रव्यके अभिमानसे उसकी मति क्षुद्र और संकुचित हो चुकी थी। उसने निष्कंचन और

शुष्क शरीरवाले प्रभुको भिक्षाके अर्थी देखे अतएव अपनी सेवकिनसे कहा कि इसको कुछ लाकर दे दे ताकि यह यहाँसे शीघ्र चला जाय। दासीने शेठकी आज्ञानुसार भिखारीके योग्य जैसा तैसा अन्न बोहरा दिया उसको लेकर प्रभु चल दिये। सर्व तरहके अन्न प्रति वे समानता ही रखते थे, परन्तु दूसरी ओर जब यह बात भाविक जिनदत्त सेठको मालुम हुई कि प्रभुने उस अभिमानीके यहाँसे भोजन ग्रहण किया है अतएव अब वे मेरे यहाँ नहीं आनेवाले हैं। इसपरसे उसको अपने मंद भाग्य पर विशेष तिरस्कार मालुम हुआ। वह प्रभुके स्वरूपका चिंतन कर रहा था और अपने मार्गकी प्रतीक्षा करता था। इतना ही नहीं परन्तु वह अत्यन्त भक्ति परायण और एकाग्र चित्तसे प्रभुको भोजन करानेके द्वारा अपने जीवनको साफल्य करना चाहता था। प्रभुने तो वहाँसे अन्यत्र विहार भी कर लिया। जिनदत्तकी मनोभावना अफल गई इससे उसका हृदय क्लेशकी अग्निसे विदग्ध रहा करता था। प्रभु जिस परम पदको प्राप्त करनेकी गतिमें हैं उस गतिमें भी अपने अन्न द्वारा यत्किंचित् सहायता देकर उस पद प्रति मेरी परायणता तो कमसे कम व्यक्त करूं और इसी प्रगाढ मनोरथसे उसका मन उल्लसित हुआ था परन्तु जब उसको मालुम हुआ कि उसकी भावना सिर्फ चिन्तात्मक रह गई है और उस संकीर्ण मर्यादाका उल्लंघन कर कियात्मक नहीं होने पाई तब उसने विचार किया कि प्रयत्नकी कमीसे ही ऐसा होनेपाया है। जिनदत्त इसतरह विचार करने लगा कि जो मात्र भावपर्यवसायी ही रहता है उसकी कीमत कुछ नहीं परन्तु जब कार्य पर्यवसायी होता है तब

उसका सम्पूर्ण सुख मिलता है। जो कि जिनदत्तका उद्योग मात्र भावपर्यवसायी अथवा चिन्तात्मक ही नहीं था। उसने विचारको मनमें ही नहीं रखा था। परन्तु अपनी भावनाको क्रियात्मक करनेके लिये सब तैयारी कर रखी थी। परन्तु जब उत्तम पुरुष अपने उद्देशको हर तरहका प्रयत्न करने पर भी अपूर्ण और आधे अपूण ही देखते हैं तब वे वहाँपर अपने पुरुषाथकी न्यूनता ही देखते हैं। जिनदत्तने प्रभुके भक्ति भावका अवसर खोया इसलिये वह अत्यन्त पश्चात्ताप करने लगा। इसके पश्चात् थोड़े ही समयमें उस नगरके उपकंठ (Suburb) में पार्श्वनाथ प्रभुके शिष्य समुदायमेंके कोई परम ज्ञानी माहात्मा आये। एक मुमुक्षु उनके दर्शनार्थ गया और उसने वंदनापूर्वक प्रभुके आहार सम्बन्धी सब हकीकत उनके सामने प्रकट की! उसने उनसे पूछा कि जिनदत्त शेठ तो भोजनको नहीं बोहरा सका और नगरशेठ जिसके चाहे जैसे क्षुद्र भोजनसे भी प्रभुकी उदराग्नि शान्त हुई थी। इन दोनोंमेंसे अधिक पुण्य किसने प्राप्त किया? मुनिने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावनाके यथातथ्य विवेकद्वारा उत्तर दिया कि "अपनी उग्र भावनासे जो फल जीर्ण शेठने सम्पादन किया है उसका एक अंश भी नगरशेठने नहीं प्राप्त किया। नगरशेठकी भावनाहीन क्रियाका फल अत्यन्त स्तोक और नहींतुल्य है और जिनदत्तने अपने परम विशुद्ध परिणामसे और प्रभु प्रति निरवधि भक्तिभावसे अच्युत देवलोककी गतिका फल प्राप्त किया है। प्रभुके भोजनाथ उनकी राह देखते समय उसका आत्म-परिणाम बहुत अधिक त्वरासे उच्च श्रेणिमें बहता था और उसके भाव

उत्तरोत्तर अधिक तद्रूप होते जाते थे। यदि थोड़ी देरतक उसने दूसरे स्थानसे प्रभुके भोजन करनेका हाल नहीं सुना होता और चित्तका विक्षेप नहीं किया होता तो थोड़ी ही देरमें जिनदत्त परमपदको प्राप्त हो जाता। जिसको संग्रह करनेके लिये प्रभु वर्षोंसे लगे हुए हैं! परन्तु थोड़ी ही देरमें उसने अपनी परिणाम धाराकी आशा निष्फल देखी। अतएव इस पदको वह तत्काल प्राप्त नहीं कर सका, खाली श्रेष्ठ देवलोककी गतिको ही उपार्जित करसका।

इस प्रसंगमेंसे दो सत्य उद्भवित होते हैं (१) भावना हीन क्रियाका फल बहुत कम होता है। (२) कर्त्तव्यके लिये पुरुषार्थ बिदून अकेला निर्बल मनोरथ भी उतना ही निर्बल है। हमें कुछ विस्तारसे इस मर्मको स्पष्ट करना उचित है।

(१) बंधका निर्णायक हेतु परिणाम अथवा भावना है, कर्म नहीं। हम अकेले कर्मसे स्व अथवा परका भला नहीं कर सकते। हम कितना ही अधिक प्रयत्न दुःखको टालनेके लिये क्यों न करें परन्तु इससे हम किसीका स्वल्प दुःख नहीं टाल सकते हैं अतएव हरएकको यह बात सदा स्मरणमें रखनी चाहिये। जिन लोगोंका यह मानना है कि विश्वके प्रति कुछ भी परोपकार करनेमें हम विश्वका कल्याण कर लेते हैं वे अपने आप ही ठगे जाते हैं इतना ही नहीं परन्तु परको हित करनेका अभिमानवाली भावनासे वे उलटे अपने आपको बंधनमें डालते हैं दुनियां अपने जैसे क्षुद्र मनुष्योंके परोपकारकी राह नहीं देखती है और जो हम ऐसी अहंकारतामें फूल जाते हैं, इससे पूरे पूरा हमें ही नुक्सान है। साफ तौरपर देखनेसे यह दृष्टिगोचर होगा कि मनुष्यके परोपकार करनेका प्रयत्न ही दूसरेके

हितका नहीं परन्तु स्वके हितका ही साधक है और इस स्वहित परिणामका आधार, उस परोपकारी कृत्यके स्थूल प्रमाणपर नहीं, परन्तु जिस स्वार्थकी भावनामेंसे यह कृति उद्भवित होती है, उस पर होता है। दूसरेके हितका होना अथवा न होना उसके स्वकृत कर्मकी विचित्रता पर निर्भर है परन्तु हमारे हितकर चिंतनसे और कार्यसे हमें उसमेंसे अंतर्गत स्वार्थ त्यागके तारतम्यानुसार जरूर ही फल मिलता है। इससे हमें जो फल मिलता है वह हमारी कृतिमेंसे नहीं, वह कृतिके मूल और उसके आत्मस्वरूपमें रही हुई स्वार्थ-पनेकी भावनामेंसे मिलता है। अक्सर हमारा कर्त्तव्य दूसरोंको सुख-रूप होसके उतना सम्पूर्ण तथा प्रबल नहीं होता। अतएव दूसरोंके सम्बन्धमें कृत परोपकार रूप प्रयत्न निष्फल ही जाता है, परन्तु परोपकार करनेवाला उस प्रयत्नके बीज द्वारा शुभाशुभ प्राप्त कर सकता है यदि उसके अंदर स्वार्थ त्यागकी भावना विस्तरित हो चुकी हो। यदि ऐसा नहीं होता और फलका आधार सिर्फ अकेली स्थूल और भावना हीन कृतिपर ही होता तो इस विश्वमें किसी द्रव्य हीन मनुष्यसे अपना कल्याण बन नहीं सकता और यदि धनी पुरुष ही अपने द्रव्य द्वारा स्व और परका सच्चा कल्याण कर सकते होते तो शास्त्रकारोंको निष्कंचनत्व न कहना पड़ता इतना ही नहीं परन्तु बोध देनेके बजाय चाहे जैसे अधिक पैसे संग्रह करके परमार्थ करनेका एकान्त उपदेश देना पड़ता। परन्तु जब ऐसा ही है तब हमें स्पष्ट मालूम होता है कि स्वयम्‌की कृति फलदायी नहीं है पर उस कृतिमेंसे पीछेसे जो स्वार्थ त्यागकी भावना होती है वही फलदायी है। त्यागकी भावना बिदून त्याग अक्सर अभिमानका

पोषक होता है इससे उसकी कृति उसके करनेवालेका तथा जिसके सम्बन्धमें जो किया जाता है उसका भी हित नहीं कर सकती। कभी समक्ष मनुष्यके सत्कर्मका उदय नजदीक हो और उसके निमित्त ही वह कृति उससे फलती हो, परन्तु यदि हम ऐसा कहें कि हमें मिलनेके फलके आधारसे ही समक्ष मनुष्यकी कृति सफल हुई है अथवा निष्फल गई है, परन्तु असलमे यह यों नही है परन्तु वह कुछ अंशमे हमारे स्वार्थ त्यागके परिणामरूपमेंसे उद्भवित होती है। दरअसल वही सफल होजाती है। संक्षेपमें मनुष्य दूसरेका परोपकार करनेसे अपना ही परोपकार करता है। इसका दूसरोंके सुखरूप होना अथवा न होना यह स्वके कर्मपर निर्भर है। आत्माके विकाशके अर्थ त्याग बहुत ही आवश्यक है इसलिये शास्त्रकार दान आदिकी बहुत महिमा करते हैं। दान यह कुछ महत्वकी वस्तु नहीं है परन्तु दान देनेके पहिले कृपणता और संकीर्णताका लोप ही महत्वकी वस्तु है। इस लोपको साधे विना अन्य क्षुद्ररूप हेतुसे जो क्रिया प्रकट होती है वह दान करनेवालेको उलटी हानि करती है कारण कि क्रियासे उसकी कीर्ति—लोभ आदि नीच वासनाएं पोषण पाती हैं और बलवान होती जाती हैं और ऐसा होनेसे ही महावीर प्रभु जैसे परम पुरुषको भोजन देनेवाले नगरसेठको जो फल मिला था वह मात्र नहींवत ही था और जिनदत्त जो कुछ भी नहीं देसका था उसने अपनी उत्कृष्ट भावनासे उत्कृष्ट फलको प्राप्त किया था।

(२) कर्त्तव्यके लिये जो फल जरूरी है उस प्रयत्न विदून खाली मनोरथ भी उतना ही फल हीन है। कितनी ही महान् पर-

मार्थिक भावना क्यों न हो, परन्तु यदि वह मात्र चिंतनमें ही अटक जाय तो वह नहींवत् है। हुई न हुईके बराबर है। चिंतन (Filling) संकल्प (Willing)के प्रदेशमें इसको आगे रखी जाय और वहां इसे कृतिकी पूर्णता पर लाई जाय तो ही उस कृतिके मूलमें रहा हुआ चिंतन सफल गिना जा सकता है। चिंतनकी महिमा मात्र एक कृतिका साधन ही है। जिस चिंतनसे संकल्प और कृतिका अनुसरण नहीं होता है वह हमें और जगत दोनोंके लिये व्यर्थ है, कारण कि हम दूसरेके दुःखके लिये कितने ही दुःखी होकर क्यों न बैठ रहे तो भी उससे उस दुःखितका कुछ भी दुःख कम नहीं होता। कदापि हम इस शुभ भावनामें कैसे भी लाभ देखनेको जावे हैं तो इसके बदलेमें इतना ही कहा जा सकता है कि इससे हमारे समभाव (Sympathy)का अभ्यास बढता है। उसकी कल्पनासे जगतके दुःखका दृष्टिगत अनुभव होनेसे हम सुखमें उत्पन्न होनेसे वच जाते हैं और हम दुःखके समय सरल दुःखकी कल्पनाके अभ्यासके बलसे कुछ दृढ रह सके। परन्तु यह लाभ कुछ महत्वका लाभ नहीं है और यदि यह महत्वका गिना जाय तो यह दूसरी विधिसे भी प्राप्त हो सकता है। यदि हम हमसे सुखीके साथ हमारे सुखका मुकाबला करे तो हमारी उन्मत्तता और मद बैठ जाता है और दुःखके समय हमें हमारेसे अधिक दुःखी जनोंके दुःखके साथ मुकाबला करना चाहिये जिससे कि हमारा दुःख शीघ्र दब जाय ऐसा करनेसे हम संतोषसे रह सकते हैं। इसलिये मात्र भाव और चिन्तात्मकपनेकी क्रियाको उल्लेख कर मात्र कृतिके पुण्य प्रदेशमें प्रवेश करना ही सच्ची उदारता है, हृदयका विस्तार है तथा स्वार्थ त्यागसे

सम्मिलित है। दुःखी जनोंके दुःखको हम देखते हैं और उनमें किसी दुःखको दूर करनेकी हमारी शक्ति है परन्तु उस समय हम अपनी शक्तिका सदुपयोग न करते मात्र उसकी ओर दुःखका रुक ही बताते हैं कि " अरे! यह बेचारा कितना पीड़ासे दुःखी है ? ऐसी भावनासे दया नहीं होनी है परन्तु उल्टा दयाका खून होता है, इतना ही नहीं परन्तु यह सम्पूर्ण निर्दयता है। जितने अंशमें उसका दुःख दूर करनेकी हमारी शक्ति अधिक है उतने अंशमें हमारी निर्दयता भी अधिक गिनने योग्य है। हमारे सहज प्रयत्नसे उसका दुःख दूर होता है अथवा न्यून होता हो तो भी हम उसकी अपेक्षा करके मात्र समभावको दर्शाकर चले जाय और ऐसे समभावको दयाके नामसे संबोधित करना ही वास्तवमें दयाके स्वरूपकी मश्करी करना है। जब किसीके मनमें पूर्ण दया उदय होजाती है तो वह कृति हुए विना निश्चित नहीं बैठेगा। जैन लोग जिसको 'भावदया' कहते हैं वह भावना इस समय लोगोंके मनमें ऐसी अस्तव्यस्तरूपमे रह गई है कि अक्सर सिर्फ हवाई किल्लोंको अथवा शेखसल्लीपनाको भावदयाकी संज्ञासे प्रबोधित किया जाता है; परन्तु भावदयाका स्वरूप ऐसा नहीं है। दूसरेके दुःखकी स्थितिका तद्रूप अनुभव और उस स्थिति प्रति हमारी समदुःखिता अथवा अनुकम्पा (समक्ष मनुष्यके हृदयकम्पका हमारा हृदय अनुकरण करे वही किया) और इसके पश्चात् हृदयार्द्रता तथा हृदयार्द्रताके बाद स्वार्थत्याग आदि हृदयकी सामग्रीके समुच्चयको भावदया कहना चाहिये। इतनी सामग्री तैयार होनेके पश्चात् कृति होनेमें कुछ देर नहीं होती मात्र एक टकोरेकी ही अपेक्षा

रहती है। कृतिका उपादान कारण उपरोक्त सामग्रीका समूह ही है; अर्थात् वह कृतिकी पूर्व पर्याय है। ऐसा बनने योग्य है कि इतनी सामग्री होनेपर भी अक्सर उस भावदयावाले मनुष्यसे कृतिके प्रदेशमें नहीं जाया जाता कारण कि उसकी कृतिसे समक्ष मनुष्यका दुःख न टले तो उस कृतिका निष्फल व्यय होता है और इससे उसकी विवेक शक्ति कृतिमें उतरनेसे रोकती है तो भी इस भावदयासे उसको जो फल मिलना है वही मिलता है। कृति नहीं बन सकती इसलिये उसको फल शक्तिमें न्यूनता नहीं रहने पाती कारण कि कृति न होनेमें उसका प्रमाद अथवा स्वार्थ हेतुरूप नहीं होता है परन्तु समक्ष मनुष्यके दुःखके बडे प्रमाणको पहुँचनेके लिये उसकी यत्किंचित् सामग्री अशक्त होती है। मनोरथ और यथार्थ भावदयाके बीचमें जो भेद है वह इससे कुछ स्पष्ट हो जायगा। संक्षेपमें जब मनोरथ चिंतन करके ही बैठ रहता है तब भाव दया कृति करने पर्यन्तके हृदयवेगको विस्तारित कर सकती है। मनोरथका मूल क्षणिक आवेशमें होता है, तब भावदयाका बीज स्वार्थ त्यागमें होता है। मनोरथ यह नाश होनेका निमित्ति मनस्तरंग है, तब भावदयाका वेग कृति होनेसे होता है और यह नियत दशामें ही गति करता है और इष्ट हेतुका साधक होता है।

एक दिन प्रभु विहार करते २ किसी नगरके समीप वनमें आये और वहां देव वाणी और मनके योगका निरोध करके आत्मसमाधिमें स्थिरतासे खड़े थे। उस रास्ते होकर अपने बैलोंको हाँकता हुआ एक गड़रिया निकला। जब वह प्रभुके नजदीक आया

कि उसको अपना कुछ जरूरी कार्य याद आया और वह अपने बेलोंको प्रभुको सौंपकर तथा उनकी निगाह दृष्टि रखनेके लिये कहकर चला गया। प्रभुके सर्व तरहके बाहिरी योग, तबतक अर्न्तर्मे गई संवरित होनेसे उस गढ़रियाके कहनेपर अथवा बैल अपने समीपमें हैं इस पर उनका ध्यान नहीं था। गढ़रिया यह समझा कि प्रभुने मेरे कहनेके उत्तरमें मौन ही गया है परन्तु उन्होंने मेरे कहनेको स्वीकार लिया है। गढरिया यदि प्रभुके आत्मस्थितिको समझसका होता तो प्रभुको प्राप्त होने ले दुखद प्रसङ्गका सभव यहांसे ही रुक जाता। परन्तु ज्यों दुनियाके सौ में नीन्यानवे प्रसङ्गोंमें विरोध खड़े होनेमें एक दूसरेकी गैर समझ ही कारण भूत है। त्यों इस गढरियसे बैल सम्हालनेके भलामणके विषयमें भी बना है। प्रभु पीछेसे बैलोंको सम्हाल लेंगे और उनकी ऐसा करनेकी इच्छा नहीं होती तो ये उसी समय इनकार कर देते, इसी खयालसे गढरिया बैलोंको प्रभुके पास रखकर अपने कार्य पर शीघ्रतासे चला गया। प्रभुको तो गढरिया, बैल अथवा भलामण इन तीनोंमेंसे एक भी बातकी खबर न थी। हुआ भी कुछ ऐसा ही कि बैल चरनेके लिये भिन्न २ दिशामें चले गये। बहुत देर बाद गढरिया वापिस आकर देखता है तो वहां-पर बैल नहीं थे। प्रभुको बैलोंके विषयमें पूछा परन्तु वे क्या उत्तर देते तो अपने पूर्वकी मौन प्रतिज्ञामें खड़े थे अतएव उसको उनकी ओरसे कुछ उत्तर नहीं मिला इस परसे मूर्ख गढरियेने यह खयाल बांधा कि इसतरह निरुत्तर रहनेमें और बैलोंका योग्य पता न देनेमें प्रभुकी अवश्य बददानत होनी चाहिये। बार २ अपने बैलोंका पता हासिल

करनेके लिये पूछने लगा, परन्तु उसके सर्व प्रश्नोंके उत्तरमें प्रभु मौनमें ही रहे तब वह अत्यन्त क्रोधित हो गया। प्रभु तो अपने स्वरूपमें तल्लीन थे अतएव उनके आसपास जो कुछ होता था उस बातका उन्हें जरा भी भान नहीं था। यदि उनके योगका वर्त्तन बाह्य भावमें होता तो यह गैरसमझ खड़ा होनेके कारणसे बचे होते और इस खराब प्रसंगसे निकल जाते, परन्तु प्रभु स्वयम् अपने इस अज्ञात वर्त्तनसे गडरियेके मनमें क्रोध उपस्थित करनेमें निमित्तरूप नहीं हुए होते, परन्तु प्रसंगपर इस गडरियेके द्वारा कर्मफलदात्री सत्ताको अपना बदला लेना है उसका काल व्यतीत होचुका है कि जो दुःखद कारणोंको प्रभुने पहिले गतिमें रखे थे। प्रभुको इस समय प्राप्त होनेवाले कष्टका कारण उन्होंने अपने पूर्व वासुदेवके भवमें इसतरह रचा था कि वे एकदफा निद्रा होनेकी तैयारीमें थे इसीलिये वे अपनी शय्यापर जागृतावस्थामें सोते थे उस समय उनका शय्यापालक इस गडरियेका शरीरस्थ आत्मा था। वासुदेवने अपने शय्यापालकको आज्ञा दी थी "कि अभी जो संगीतवाद्य आदि बज रहा है इन सबको जब मैं निद्रावश हो जाऊँ फौरन बंद करा देना। मात्र मैं जहां तक निद्रावश न होऊँ वहाँ तक इनको जारी रखना" गायकोंने अपने संगीत बंद करनेके नित्य समयपर इसको बंद करनेकी आज्ञा मांगी परन्तु शय्यापालक तो उस समय रागवश हो चुका था अतएव उसने संगीतको शुरू रखनेकी आज्ञा दी। गायक लोग उसकी आज्ञानुसार सुबह तक गाते बजाते रहे। अब वासुदेवके जगनेका समय होगया है उसने

इस बातको ध्यानमें नहीं रखा और संगीतको जारी ही रखवाया। आखिरमें नृपति जगकर क्या देखता है ? कि जो संगीत रातके पहिले पहरसे शुरू हुआ था वही अभी सूर्योदय तक बराबर हो रहा है। उन्होंने गायकोंसे पूछा तो उन्होंने प्रार्थना की कि शय्यापालककी आज्ञानुसार हम कार्य कर रहे हैं। इससे वासुदेव-को अपनी आज्ञाकी अवगणना करनेसे अपने अनुचरकी रागांधता पर क्रोध आया और उसको बुलाया। उसने जिस इन्द्रियको तृप्त करनेके लिये अपने स्वामीकी आज्ञाका उल्लंघन किया था, उस इन्द्रियके उपयोगका सदन्तर नाश करनेका हुक्म दिया। उसके कर्णके सुराखमें शीशेका गर्म रस डालकर वे बंद कर दिये गये। यह निर्दयतासे भरा हुआ कार्य करनेमें पूर्वभवमें वासुदेवके शरी-रस्थ और इस समय प्रभुके शरीरमें विराजमान आत्माने जो प्र-चंड और उग्र भावका सेवन किया था उसका बदला भोगनेका अनिष्ट प्रसंग प्रभुके लिये नजदीक आगया। प्रभुने पूर्वभवमें अपने राजत्वके अभिमानके कारण सहज कोपोत्तेजक कारणसे अपने सेवकके कर्णमें शीशा डलाया था यह बहुत ही भयङ्कर कार्य था। त्यों इस भवमें गड़रिया सहज बैलोंका ठीक पता प्रभुकी ओरसे न पानेसे कुपित होगया और प्रभुके कानोंमें शरकर वृक्षकी मेख ठोक दी। जिससे कि उनके कानोंमें इन मेखोंके अस्तित्वकी किसीको खबर न होने पावे अथवा वे वापिस न निकले इसलिये मेखोंका जो भाग बाहिर बचा था उसे काट दिया। निरागी प्रभु इस बलवान चलित

प्रसङ्गसे जरा भी अपने समभाववृत्तसे नहीं डीगे। वे इस बातको अच्छी तरहसे जानते थे कि इस विश्वमें एक स्फुरण जितना कार्य भी पूर्वमें रचित कारण विना नहीं प्रगट होता है। गडरीयेने उन्हें जो उग्र कष्ठ दिया उसके कारण भी स्वयम् आप ही थे। वह कारण उस समय गडरिये द्वारा फलरूप हुआ था इस बातसे प्रभु अज्ञात न थे।

वासुदेवके भवमें प्रभुने अपने सेवकके कानमे शीशा उलवाते समय जिस मनोभावका सेवन करके भयङ्कर वेदनीय कर्म उपार्जन किया था उस मनोभावके अन्तर्गत मुख्यत्व दो तत्त्व थे (१) खुदकी उपभोग सामग्रीको अन्यके उपभोगके लिये उपयोग होता देखकर प्रगट हुई ममत्त्व भावना (२) अलबत्ता उस शय्यापालकको दूसरेके हक्क पर आक्रमण न करना था और उसके दडरूपमे उस आक्रमणके स्व-रूपके विस्तार पर लक्ष रखे विना क्षणिक आवेगके वश होकर, मदांधतासे किसीको मरजी मुजब शिक्षा करनेकी भावना और खुदके लिये अभिमानसे यह खयाल करना कि हमे कोई पूछनेवाला नहीं है। खुदकी उपभोग सामग्रीका सुखा स्वाद अन्यद्वारा होता देखकर उसका बदला लेनेके लिये जो वृत्ति उद्भवित होती है, उसकी तीव्रता, गाढता, और स्थायित्वका नियामक उस उपभोग सामग्रीमें रहा हुआ ही स्वका ममत्त्व है। मेरे पुण्य बलसे जो कुछ मुझे मिला है उसका भोक्ता मेरे सिवाय अन्य कोई नहीं होना चाहिये, यदि नजर बचाकर कोई उसका लाभ लेले, कोई उसका अयोग्य तौर पर उपयोग करले, अथवा वह योग्य सामग्री मेरे पाससे छीन ले, तो उसका मरजी

मुजब बदला मुझसे जितना होसके उतने ही आवेगसे मैं लूँ, और पामर हृदयका सदा स्वाभाविक वेग ऐसा ही होता है। परन्तु यदि मनुष्य स्वस्थता पूर्वक निर्मल बुद्धिसे विचार करके देखे तो उसको मालूम होगा कि जिस वस्तुको वह अपने पुण्य बलसे उपस्थित हुई गिनता है और जिसको मात्र स्वके उपभोगके साधनकी कल्पना करता है, उस वस्तुका सुखदायीत्व बहुत आंगतुक कारणो पर आधार रखता है अर्थात् उस वस्तुकी भोग प्रदान शक्ति, भोक्ता जिसको उसके उपभोगसे अलग रखना चाहता है वह उसके उपर ही बहुत अवलम्बित रहती है। वस्तुका सुखदायीत्व जिन अशोंके समुच्चयसे उद्भवित होता है, उन अशोका तिरस्कार ही मुर्खाइसे भरा हुआ कार्य है और इधर उधरका समाज हमारे इन अधिक विषयोंके सुखदायी स्थितिका मुख्य अग है। समाज और हमारे सुखका अवयव सम्बन्ध है—अर्थात् जन समाज यह हमारे सुखका मुख्य घटक अथवा अश constitnent है। हमारे उपभोग सामग्रीके मूल्यका कितने अशमे समाजपर आधार है उसका किंचित विवरण इस स्थानपर नही गिना जायगा।

मनुष्यके हृदयका गुप्त अवलोकन करनेसे मालूम होता है कि सुन्दर और सुखद वस्तुका उपभोग करनेसे ही उसकी परितृप्ति नहीं होती है। परन्तु उसके साथ हमारे सुखानुभवका बाहिरी जगत्को भी ज्ञान है उसका भान और उसके भोक्ता होनेमे ही आधोआध सुख है। सुन्दर वस्त्रालकार पहिननेमें जो सुख समाया हुआ है उसका प्रथक्करण करनेसे मालूम होता है कि उस सुखका जरा भी अश उस वस्त्रालंकारमें स्वतः नहीं रहा होगा। उसमें स्पर्श सुखका भी

हक नहीं है। परन्तु उल्टा इससे शरीर पर एक प्रकारका उपाधी रूप एक तरहका खिंचान ही मालूम होता है। तो भी उसमें जिस सुखका अनुभव किया जाता है, वह "खाली एक तरहका भान ही है कि हमें ऐसे सुन्दर अलकारसे परिवेष्ठित देखकर आसपासके लोग हमे सुखी गिनेगे,"। अलंकारके अङ्गमे रहनेवाली भावनाको बाद कर दी जाय तो शेष मुशकिलसे ही कुछ रहने पावेगा और यह ऐसा ही है इसलिये अलंकारद्वारा अपनी सुखमय अवस्थाका जाहिरनामा फेरनेवाला ही अपने घरके पोषिदा कोनोमे उन अलकारोको एक ओरपर रख देता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि ससारमें प्राप्त अवरार सुख ही है कि "आसपासका जनमडल हमे सुखी माने" और वे इसी अभिमानके आश्रित रहते है। यदि उनके आसपास उनको सुखी गिननेवाला कोई मनुष्य न हो अथवा अपनी सुखमयताके अभिमानका कुछ भी निमित्त न हो तो उनकी सुख सामग्री तथा उनके पुण्यबलसे जो सामग्री उनको प्राप्त हुइ है उसका मूल्य कुछ नही रहता। सुखी होनेके लिये अकेली सुख सामग्री ही नही है, परन्तु इसके पहिले जो अपने आपको ऐसी सुखसामग्रीसे सुखी मानते हैं उन मनुष्योके मडलकी ही ससारमे प्रथम आवश्यक्ता है।

जब आसपासके जनमडल पर हमारे सुखका इतना अधिक आधार है अर्थात् वह हमारे सुखके आत्मा समान है तो फिर "हमारी उपभोग सामग्री पर उनका कुछ भी हक नहीं और हमारे पुण्य संचयसे प्राप्त सुखके हम ही भोगता है। ऐसी भावनाओंको माननेवाले हृदय संकोच, दीनता और विषय लालचाके

अतिशयको सूचित करते हैं। अपने पुण्यबलका अभिमान रख- नेवालेको समझना चाहिये कि यह सारा ससार तुम्हारे सुखके अर्थ नहीं घडा गया है अथवा तुम्हारे पुण्यबलमेसे नहीं प्रकट- हुआ है। हमारे सुखानुभवका मुख्य अगरूप समाज प्रति तिरस्कार वृत्ति ही आत्माकी अधम दशाका ही प्रकार है हमारे मालिकीकी चीजको हमारे सिवाय दूसरे किसीको भोगनेका हक नही है और इसका नियम राजकर्त्री सत्ताने मात्र व्यवहारमें अव्यवस्था न होने पावे इसके लिये ही घडा है। यह लौकिक नियम, विश्वका राज्यतत्र चलानेवाली दिव्य शक्तिके लिये जरा भी बधनकर्त्ता नही है। सहुलीयतके लिये बनाये हुए नियम आदि प्रकृतिके महा राज्यमे प्रवर्त्तित नियमोको प्रतिनिधीरूपमे मान लेनेकी भूल बुद्धिमान नहीं करते है। हमारे स्वामीत्वकी वस्तुपर दूसरे आक्रमण न करे इसके लिये नियम घढनेमे लौकिक सत्ताका हेतु लोगोकी स्वार्थवृत्तिको मर्यादामे रखनेका ही है, परन्तु ईश्वर के महाराज्यमें ऐसे स्वार्थोके लिये अधेरा नहीं है अतएव उसमे प्रवेश करनेकी इच्छावालेको इस स्वार्थवृत्तिको त्याग देना चाहिये कि अपनी वस्तुके उपभोगका सम्पूर्ण हक अपना ही है और उसमे दूसरेका कुछ नही है। हमारी वस्तुका मालिकी हक हमारे सिवाय दूसरेका कुछ नही है जो ये भावना हमारे अदर घर करके बैठी हुई है और यदि ऐसा प्रभुके घरका कायदा होता तो महावीर और बुद्ध आदि ईश्वर कोटीके पुरुष उस नियमका उल्लंघन कभी नही करते परन्तु जब उन्होने अपना मालिकी हक दुनियाको बाँट देनेमें ही अपना सच्चा हित माना तब उनको आदर्श रूपमें मान-

नेवालोंको स्वीकारना ही पडेगा'—" हमारी सुखसामग्रीका हम अकेले ही उपभोग करे " यही स्वार्थभावना आत्माका अधःपतन करती है ।

वासुदेवके भवमे अपने शय्यापालकके कर्णमे शीशा रेडनेकी जो क्रूर शिक्षा महावीर प्रभुने की थी, उसके अन्तर्गत जो उग्रह और निष्ठुर परिणाम था वह उनको इस भवमें उदयप्राप्त प्रचंड-वेदनीय प्रकृतिमे हेतुरूप था । एक अल्प अपराध करनेके लिये भयङ्कर दंड करनेके कार्यमे वासुदेवकी जो तीव्र स्वार्थभावना और घातकी वृत्ति समाइ हुई थी उसके फलरूप वर्त्तमान भवमे महावीर प्रभुको वैसी ही शिक्षा सहन करनी पडे इसमे कोई शक नहीं है कि यह निसर्गके नियमके बिल्कुल अनुरूप होने योग्य था हमें कोई पूछनेवाला नहीं है और हमारे सेवकका जीवन मरण हमारे हाथमें है, इसलिये राग द्वेषानुकूल सजा कर देनेकी भावना रखना वासुदेवके लिये घटित न था । उसमे विशेष करके जब सेवक उस आज्ञाकी शिक्षाके विरुद्ध अपना कुछ बल आजमा नहीं सकता था । और प्रत्याघात करनेका उसको जरा भी समय नहीं मिला, उस समय वासुदेवको अपने वैरकी भावना पर अंकुश रखना चाहिये था । जब समक्ष मनुष्य हमारे विरुद्ध हाथ नहीं उठा सकता तब उसके प्रति काम लेनेमे मनुष्यको बहुत विवेक रखना चाहिये । हमारे कार्य विरुद्ध समक्ष मनुष्यको कुछ विरोध करनेकी अथवा अपना बल आजमाइश करनेकी तक प्राप्त हो तो दोनोंकी विरोधभरी रुक कितनेक अंशमें स्थूल भूमिका पर टक्कर खाकर नाश होजाती है और इससे बहुत उग्र कर्मबंध

नहीं होता है। परन्तु जहॉ ऐसा नहीहोता है—अर्थात् एक पक्षको चुपचाप शिक्षाही सहन करनी पडती है वहा यह शिक्षा दोषके प्रमाणसे अधिक होती है तो उसका वैर शिक्षा सहनेवालेकी आत्माकी सूक्ष्म भूमिकापरसे उचलकर अधिक होजाता है और उसका फल आखिरमे बहुत बुरा होता है।

प्रत्याघातके सामने यदि मनुष्यको अवसर मिले तो वह वैरभाव कुछ स्थूल कार्यद्वारा शिथिल पडजाता है परन्तु ऐसा जहा नही होता है, वहा वैरवृत्तिका बल समक्षपक्षकी सूक्ष्म भूमिका (astral plane) उपर एकत्र होता है और उसके परिपाकका अवसर आनेपर, उस शिक्षा करनेवालेसे भयङ्कर बदला लिये बिना उस वैरवृत्तिकी शाति नही होती और बात भी ऐसी है अतएव बहुत बुद्धिमान राजा दुश्मनके कैद मनुष्यो प्रति अच्छा वर्त्तन रखते है और उनकी अच्छी तरहसे सेवा सम्हाल करते है। यदि वह उस समय चाहे तो सर्व मनुष्योको मार सकता है क्योकि उसके अन्दर उनको मारनेका सामर्थ्य है। उसके इस वर्त्तनके सामने वे लोग अपना हाथ नही बता सकते है अतएव वह ऐसा करनेमे महान् अनिष्ट फल देखता है। सत्ताहीन रक मनुष्योंको दुःख देनेमे अथवा उनको उनके अपराधके प्रमाणसे अधिक शिक्षा करनेमें जो भयङ्कर अनिष्टता रही हुई है उसको आत्मज्ञ पुरुष ही अच्छी तरहसे समझ सकते है। सूक्ष्म भूमिकापर उस वैरका रुक कैसे पोषण पाकर बढता है, उसका स्वरूप जो जानते है, वे जगत्को वारम्वार ऐसे कार्यसे सचेत रहनेकी सलाह देते गये हैं। हमारी शिक्षाके सामने विरोध करनेको सत्ताहीन प्राणियोंके

उष्ण निश्वासमे लोहूको भी भस्मीभूत करनेका प्रचंड दावानल भी गुप्त तौरपर समाया हुआ है। यह सदेशा अनेक पुरुष विश्वको देने गये हे इतिहासके पृष्ट भी इसी सत्यकी शाक्षी देते हुए हमारे सामने पडे है। अयोग्य दड देनेकी वृत्तिसे सर्व प्रजा और सर्व खंडव्यापी राज्यसत्ताए विनाश हो चुकी है, तो एक गरीब मनुष्य ऐसी वृत्तिके उग्र फलसे कैसे बच सकता है? वासुदेवको ऐसी शिक्षा देते समय ऐसा ही गर्व था कि मेरे शासनचक्रमे रहनेवाले सर्व मनुष्योके साथ मै जो कुछ चाहूँ वह कर सकता हूँ। मेरे कार्यके सामने सिर उठानेवाली इत्तरसत्ता इस विश्वमें और कोई नहीं है। परन्तु वे अभिमानके आवेशमे इतना देखना भूल गये कि इस भवके अलावा अन्य भव भी है और इस भवके कार्यका फल आगामी भवमे मिलता है। सत्ता मनुष्यको अधा बना देती है उस समय उमके अदर पहिलेका निर्मल विवेक नही रहता है। वासुदेवके लिये यह बात बनी थी वे अपनी सत्ताके अगमें रही हुई विवेक रखनेकी जबाबदारीका भान भूल गये। उसका परिणाम यह निकला कि इस भवमे महावीर प्रभुके देहमें उसका विपाक सहन करना पडा।

कष्ट सहन करनेका ही जिसका वृत है उन वीर प्रभुने उस गढरियेके कार्यकी चोटको शान्तिपूर्वक सहन करली। वहांसे विहार करके अनुक्रमसे प्रभु एक नगरमें गये। वहाँ एक खरक नामक वैद्यने प्रभुके शरीरकी काति निस्तेज देखकर अनुमान किया कि उनके शरीरमे कुछ शल्य होना चाहिये। शोध करते २ कानमें किले मालूम हुए। सिद्धार्थ नामक श्रेष्टिकी मददसे उस वैद्यने

प्रभुके कर्णमेंसे कीले खिंच निकाले। कहा जाता है कि उस समय जो वेदना प्रभुको हुई थी उसकी उत्कटताके कारण उनके मुखमेंसे भयङ्कर चिल्लाहटके प्रमाणु निकले थे। प्रभुको अनेक उपसर्ग हुए थे तो भी उनके मुखसे एक भी कायरताका निश्वास न निकला था परन्तु इस आखिरी उपसर्गसे उनका उपयोग कुछ शिथिल हुआ था अथवा देहभाव अव्यक्ततासे उपस्थित होगया था। बहुतसे इस बातको असभविन मानते है कि तीर्थङ्करके मुखसे ऐसी चिल्लाहट कभी नहीं हो सकती और बहुतसोका यह कथन है कि प्रभुके सब उपसर्गोंसे यह उपसर्ग अति कष्टकर था। इम उत्कृष्ट उपसर्ग के पश्चात् प्रभुको एक भी उपसर्ग नही हुआ। दीक्षाके साडा बारह वर्ष उनके लिये कष्टकी परम्परारूप ही थे। वे बारह वर्षमे साडे अगीयारह वर्ष और पचीम दिन निराहार रहे थे तो भी उत्कृष्ठ पराक्रम क्षमा, निर्लोभता, आजव, गुप्ति और चितप्रसन्नता पूर्वक उन्होने मब उपसर्गोंको सहन किये। ज्यो सुगधित द्रव्यको जलानेसे अधिक सुगध आती है त्यों प्रभु भी विशेष और विशेष परिसहसे विशेषमे विशेष विशुद्ध और आत्मभावको प्राप्त करते जाते थे। कष्ट प्रसङ्ग ही देहाध्याससे मुक्त होनेके प्रसङ्ग है। मूर्ख मनुष्य उलटे उन प्रमगोमे देह सम्बन्धी ममत्व और हाय २ कर कर्मबध करते है और देहभावको सदृढ बनाते है। विवेकी और मुमुक्षु जन उस अवसरपर देहादिक अपने नहीं है और आत्मा और देह तलवारके मियानकी नाइ भिन्न है, ऐसे अपरोक्ष अनुभव प्राप्त कर लेते है। प्रभुके कष्टके इतिहासमेंसे हमे जो शिक्षण लेना है उसमेंसे मुख्य यही है कि उनको ऐसे निमित्त प्राप्त होते ही देहा-

दिक वृत्तिका जय करके उससे अपनी असंगता, भिन्नता, समरसता साधी थी। मुर्च्छाके भावमें देहके कष्टोंको आत्मकष्टके तौरपर गिने नहीं थे। ज्यों २ कष्ट अधिक तीव्र बनते गये त्यों २ उनका आत्मभाव गाढ बनता गया वे उपसर्ग मात्र अपने आत्मभावके अभ्यासके तौरपर ही मानते थे।

कष्ट यह मात्र मनुष्योको दुःख देनेके लिये ही आता है ऐसा नहीं मानना चाहिये। दुःखके साथ ही मनुष्य चाहे तो उन कष्टोंसे वह बहुत अमूल्य पाठ सीख सकता है कि जो पाठ साधारण सयोगोमे कभी नहीं सीखे जासकते मनुष्य हृदय गत अनुभव दुःखके प्रसगोमेसे ही प्राप्त कर सकता है। और एक पक्षमें बुद्धिका शिक्षण मनुष्यके कल्याणके लिये उपयोगी है त्यों अन्य पक्षमे हृदयका शिक्षण भी उतना ही उपयोगी है और खास करके आत्मश्रेय साधककोको मुख्यतः हृदय शिक्षण ही उपयोगी है। अक्सर यह शिक्षण दुःखके प्रसग पर जो अनुभव आत्मापर रख जाता है, उसमेसे मिलता है दुःख धिक्कारने योग्य नहीं है। परन्तु वह दुश्मनके रूपमे मित्रका कार्य करता है अतएव उलटा वह चाहने योग्य है। मात्र मनुष्यको उसका सद् उपयोग करनेका है। उस दुःखानुभवकालमे हमे हमारी भूतकालकी भूलोंका भान होता है। और भाविमें ऐसी भूल न होनेके लिये वैसे ही सद् निश्चय बाधे जाते है। बुद्धिमतोको दुःखसे आत्माके निर्मल होनेका अनुभव होता है और आत्मापरसे कितनेक धन आवरण पडते हुए मालूम होते है। सच्ची वस्तुस्थितिका, आत्मा अनात्माका और संसारकेस्वरूपका उसको ज्ञान होता है। अनुकूल वेदनीयके—सुखके

उदयकालमें उपरोक्त अनुभवका होना असंभवित नही तो अशक्य तो अवश्य है और ऐसे उत्तम अनुभवका उपयोग करके उसमे अपना हित साध लेना यह महावीरप्रभुके चरित्रमेसे सतत् वहता हुआ एक अति मूल्यवान उपदेश है। महावीरके कदमपर चलनेका दावा रखनेवाले प्रत्येक मनुष्यको उनके जीवनमेसे उद्भवित इस महान् शिक्षणको सदाकाल अपने हृदयमे स्थापित करके रखना चाहिये।

यह अखिरी उपसर्ग सहन करनेके पश्चात् प्रभुको कैवल्य ज्ञान उत्पन्न हो गया। कल्पसूत्रके अभिप्राय अनुसार वैसाख सुदी दशमके दिन, पीछले पहरमे, विजय मुहूर्तमे, जभीक नाम गाँवके बाहिर, उज्जुवालुका नदीके तीरपर, वैयावर्त्त नामके चैत्यके नजदीक, शालीवृक्षके छायाके नीचे, गोदुग आसनपर बैठकर शुक्ल-ध्यानको लक्षमे लेते हुए प्रभुने उस ज्ञानमें प्रवेश किया जिस ज्ञानमें सर्व प्रकारके ज्ञान समावेश होते है अर्थात् सम्पूर्ण केवल-ज्ञानी होगये।

कैवल्य प्राप्त होनेके पश्चात प्रभुका चरित्र परमात्म कोटिका होगया था वह हमारी मति और कल्पनाके बाहिरी प्रदेशका है। उसके बाद उनकी छद्मस्थचर्या बन्द होगई, और अब केवल चर्या शुरू होती है हम उस विषयमे उतरना नही चाहते है। मनुष्य मनुष्यके वर्त्तनमेंसे शिक्षण प्राप्त कर सकता है। ईश्वरके चरित्रका वह अनुसरण नही कर सकता और हमारा लिखित उद्देश मात्र प्रभुके मनुष्य देहधारी जीवनके प्रसङ्गोमेंसे उद्भवित सार उपार्जित करनेका ही है अतएव हम प्रभुके कृतकृत्य होनेके पीछले जीवन विभागमें प्रवेश नहीं करते है।

हिन्दी विजय ग्रन्थमाला।

यह ग्रन्थमाला हिन्दी साहित्यमें अपने ढङ्गकी अपूर्व और अद्विय है, यदि आप घर बैठे महात्मा पुरुषोंकी जीवनिए पढ़ना चाहते है, यदि आप तत्त्वका रहस्य लूटना चाहते है, यदि आप समाजशास्त्रके सिद्धान्तोंको मनन करना चाहते हैं, यदि आप प्रकृति देहन आरोग्यशास्त्रके जानकरी होकर दीर्घजीवी होना चाहते है, यदि आप देश देशान्तरोंके उत्थान और पतनका हाल जानना चाहते है. यदि आप अमेरिका, इगलैंड और जर्मनी आदि देशोंके नित्य नये प्रकाशित होनेवाले डाक्टर लुइ कुने आदि प्रसिद्ध प्रकृतिक उपचारोंके ग्रन्थोंका हिन्दी अनुवाद पढ़ना चाहते है तो शीघ्र ही "**हिन्दी विजय ग्रन्थमालाके ग्राहक हो जाइये।**" इसमे कई ग्रन्थ ऐसे प्रकाशित होगे जिसको हिन्दी ससारने आज तक कही नहीं सुना।

नियम–(१) स्थायी ग्राहकोको ग्रन्थमालाकी सर्व पुस्तकें पौनी कीमतमे मिल सकेंगी। प्रत्येक पुस्तक वी० पी० द्वारा भेजी जावेगी।

(२) प्रारभमें केवल आठ आना 'प्रवेश फी' देनेवाले स्थायी ग्राहक समझे जावेंगे। (३) ग्रन्थमालामें साल भरमे कितनी पुस्तके निकलेगी इसका कोई मुख्य नियम नहीं है। ग्राहक लोग जिस पुस्तकको चाहे उसे खरीद सकते हैं।

मेन्टलटेलीपेथी अर्थात् मानसिक संदेश ।

आकर्षण करनेकी शक्ति मनुष्यमें है। लेकिन उसका उपयोग करना बहुत कम लोग जानते है। इस शक्तिके द्वारा मनुष्य एक दूसरेसे बातचित कर सकता है चाहे वह कितने ही कोसपर अलग क्यों न हो। इस पुस्तकमे यह बताया गया है कि मानसिक आ-कर्षण द्वारा किस तरह एक दूसरेसे बातचीत होसकती है। यह पुस्तक एक अंग्रेजी पुस्तकके आधारपर लिखी गई है। यह विषय नवीन तथा चमत्कारपूर्ण है। इसको पढ़नेमे भारतवासियोको अमेरिका ढङ्ग मालूम होजायगा जिसको हम लोग अब तक ईश्वर प्रदत्त समझ रहे है चार भागोका मूल्य रु १) और प्रथम भागका मूल्य रु ।) आने है।

मिलनेका पता—**ताराचंद्र दोसी**
सिरोही (राजपूताना)

दुग्धोपचार और दूधका खाना ।

यह पुस्तक अमेरिकन प्रकृतिक साइन्सके आधारपर तैयार की गई है और इसमे ये बाते अच्छी तरहसे बता दी गइ हैं कि दूध एक ऐसी वस्तु है जिसके द्वारा हरएक रोग आराम होसकता है इतना नहीं साथमे उसकी विधि और उपचार सक्षेपमे बताये है। मूल्य रु ०—४—०

मिलनेका पता—**ताराचंद्र दोसी सिरोही**
(राजपूताना)

'जैन समाज'

(हिन्दी भाषाका मासिक पत्र)

इसका मासिक सम्पादन और व्यवस्था इतने दिन तक हमारे दूसरे मित्रोके हाथमे थी। उनसे जितना हो सका इसके लिये अच्छा कार्य किया और कर रहे हैं कईएक अनिवार्य कारणोंसे यह मासिक कुछ समय तक बन्द था। परन्तु जुन महीनेसे इस मासिकको हम फिर शुरू करते हैं इसके जो पुराने ग्राहक है उनको जितने महिने तक मासिक बन्द रहा है उतने ही फार्मकी हम पुस्तकें देनेको तैयार है जिसका विस्तृत नोट म्ये पुस्तकोके नामोके हम दो सप्ताहके अदर सप्ताहिक पत्रोमे प्रकाशित करेगे। अबसे इस मासिकमे जो२ लेख रहेगे उनमे मुख्यत समाजसुधार और शिक्षा पर होगे। इसके भेटका पुस्तक महावीर जीवन विस्तार तैयार हो गया है जिन्हे ग्राहक होना हो ग्राहकश्रेणीमे नाम लिखादे और जो पुराने ग्राहक है वे हमे सूचित करे कि हम ग्राहक रहनेको तैयार है। उनकोय ही महावीर जीवन विस्तार पुस्तक तथा इस मासिक पत्रका पहिला अङ्क वी० पी द्वारा भेजा जायगा।

वी० पी० सिंघी,

मैनजर 'जैन समाज'

आबूरोड (सिरोही)

शीघ्र नाम लिखा दो ! शीघ्र नाम लिखा दो !!

मानव धर्म संहिता ग्रन्थ।

यह ग्रन्थ जैन समाजमे बहुत मान प्राप्त कर चुका है और जितनी कदर वर्त्तमान ग्रन्थोमें इसकी हुई है और किसीकी नही हुई। इसको हरएक मनुष्य अपने पास रखना चाहता है। यह ग्रन्थ एकवार प्रकाशित हो चुका है और इसकी सब कोपिये बिक चुकी है। लोग इस ग्रन्थको बडे चावसे चाहते है और इसकी पुरानी कोपी खरीदनेके लिये दश २ रुपये देनेको तैयार होजाते है परन्तु उनको पुरानी कोपी नहीं मिलती। वे लाचार होकर हमारे मंडलको इसकी पुनरावृत्ति करनेको वारम्वार अनुरोध करते है। क्यों न हो, यह उन महात्माका लिखा ग्रन्थ है जिनमे सर्व लोग परिचित है। इन महात्माका नाम न्यायमोनिधि शान्त मूर्त्ति मुनिराज शान्तिविजयजी महाराज है। आप अच्छे वक्ता तथा तत्वज्ञ है। ऐसे महात्माओके उत्तम ग्रन्थोंकी पुनरावृत्ति हमारा मंडल करे। यह इसके लिये कम सौभाग्य नही है। मंडलका सदा यही उद्देश होना चाहिये कि जिससे जन समाजमे विशेष लाभ हो वैसे ग्रन्थोको प्रकाशित करे। ग्रन्थ बडा है पहिले यह जिस समय छपा था उस समय कागजका भाव डेढ आने रतल था आज उसी कागजका भाव छ आना रतल है तो भी हम इस उत्तम ग्रन्थको प्रकाशित करनेको तैयार है। अच्छे कागजों पर पक्के पुट्ठेमे सुनेरी अक्षरो सहित सुन्दर अक्षरोंमे तैयार होगा। मूल्य इसका रु ५—०—०से अधिक न होगा। इसके दो हजार ग्राहक होनेपर पुस्तक प्रकाशित होगी।

सेक्रेटरी—जैन ज्ञानप्रसारक मंडल, सिरोही।

नव-रत्न।

श्रीमान् सेठ व्हेचरदास नाथूभाई
जैन वढ़वाणनिवासीके साहित्यके
दानद्वारा "दिगंबर जैन" पत्रके
२३वें वर्षके ग्राहकोंको भेंट।

-कामताप्रसाद जैन।

ॐ

नव-रत्न।

[अरिष्टनेमि, चंद्रगुप्त, खारवेल, चामुंडराय, मारसिंह, गंगराज, हुल्ल, सावियब्बे व सती रानीकी ऐतिहासिक कहानियाँ।]

लेखक—
बाबू कामताप्रसादजी जैन, एम. आर. ए. एस.
ऑन० सम्पादक "वीर" व रचयिता—भगवान महावीर, महावीर व बुद्ध, भगवान पार्श्वनाथ आदि—अलीगंज।

प्रकाशक—
मूलचंद किसनदास कापड़िया,
मालिक, श्री दिगम्बर जैन पुस्तकालय—सूरत।

"दिगंबर जैन" के २१ वें वर्षके
ग्राहकोंको भेंट।

प्रथमावृत्ति] वीर सं० २४५६ [प्रति १०००

मूल्य ०-६-०,

प्रिय ऋषभचरण !

लो, यह प्रेमोपहार
भेट है।

—लेखक।

प्रस्तावना ।

मनुष्य-प्रकृति नूतनता-प्रेमी है। नई बातको सुनने और जाननेका कौतूहल आबालवृद्ध—वनिता सबहीको है। बालकोंकी बुद्धिका जहां विकास हुआ कि उन्हें मानव कहानीकी मौलिकता अनुभवोंको जाननेकी अभिलाषा हुई! 'मां' और आवश्यक्ता। या 'दादी' को घेरकर वह तरह-तरहकी कहानियोंको सुननेका तकाज़ा करने लगते हैं। इन कहानियोमें उन्हें नई २ बातें जाननेको मिलतीं हैं; जो उनको अपना काल्पनिक जगत रचनेमें और ज्ञानको परिपक्व बनानेमें कार्यकारी होती हैं। इस तरह पर कहानीका स्थान मानव साहित्यमें प्राकृत आवश्यक और उपयोगी है। तथापि धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रमें कहानियां अपना विशेष मूल्य रखती हैं। मालूम होता है, पहले पहल सदुपदेशको जनसाधारण तक पहुचानेके लिये उनका उपयोग हुआ था। किन्तु धीरे २ वह मनोरंजन, इतिहास और हंसीके लिये भी व्यवहृत होने लगीं। आजकल जनश्रुतियां और कथायें इतिहासके लिये बडे मूल्यकी समझीं जातीं हैं। जनसाधारण कहानियोंको बड़े प्रेमसे पढ़ने लगा है।

यह है भी ठीक; क्योंकि हम कह चुके हैं कि मनुष्य प्रकृतिके यह अनुकूल है। यही कारण है कि संसारके प्राचीनतम ग्रन्थोंमें

कहानी साहित्यकी प्राचीनता।

कहानियोंका सद्भाव मिलता है। वेद, उपनिषद् आदि ब्राह्मण-साहित्य ग्रन्थोंमें यत्र-तत्र कहानियाँ बिखरी हुई मिलतीं हैं। ऋग्वेदमें अपालाकी कथा यदि पढ़नेको मिलती है तो उपनिषद्में जाबाल सत्यकामका वर्णन मिलता है। इसतरह आजसे लगभग चार हजार वर्ष पहले कहानी मानव समाजमें प्रचलित प्रमाणित होती है। किन्तु जैन मान्यता, कहानीके प्रचार विषयक प्राचीनताको और भी गहन ठहराती है। जैनोंका कहना है कि इस युगकी आदिमें जब श्री ऋषभदेवजीने जैनधर्मका उपदेश दिया और तद्विषयक साहित्यका निर्माण हुआ तो उसमें 'कहानी' 'कथा' अथवा 'पुराण' को भी मुख्य स्थान मिला। जैनोमें यह साहित्य 'प्रथमानुयोग' के नामसे परिचित है और यह विशेषतः सत्य घटनाओंके आधारपर रचा हुआ समझा जाता है। जैनोंके इन ऋषभदेवका उल्लेख स्वय ऋग्वेदमें है [1] और भागवतमें इनको बाइस अवतारोंमेंसे आठवा बताया गया है [2]। अतएव ऋग्वेदकी कथाओसे प्राचीन जैनोंका प्रथमानुयोग शास्त्र प्रमाणित होता है। सिंधप्रांतके मोहन जोडेरो नामक स्थानसे मिले हुये पुरातत्वसे भी इस मान्यताका समर्थन होता है। क्योंकि वहां एक मुद्रा ऐसी मिली है जिसपर जिन मूर्ति अंकित है और यह ई० पूर्व ३–४ हजार वर्षकी मानी गई है। [3] बस भगवान् ऋषभदेवका समय कमसेकम इसी कालके लगभग अथवा इससे बहुत पहले

१–ऋग्वेद १०–३। २–भागवत ५–४, ५, ६। ३–प्रीहिस्टॉरिक सिविलीजेशन ऑव इन्डस वैली–जैनमित्र वर्ष ३१ पृ० ३४।

जैसे, जैनी मानते हैं, ठहराता है। और तब कहानी भी उस कालमें विकसित और प्रचलित मिलती है। अस्तु।

यह तो हुई कहानीके प्रारंभिक कालकी बात, उस समयकी जिसका पूरा२ पता हमें नहीं है और जिसकालकी साहित्य रचनायें आज पूर्णतः उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु जब

भारतीय साहित्यमें कहानी और उसका महत्व।

हम ऐतिहासिक कालकी ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमें संस्कृत, प्राकृत और पाली साहित्यमें ही पहले-पहले कहानीका अस्तित्व मिलता है। 'महाभारत' की छोटी२ आख्यायिकाएं और हिन्दू पुराणोंकी कथायें संस्कृतकी रचनायें हैं। किन्तु उपरान्तके 'कथा सरितसागर' हितोपदेश और 'बृहत कथा मंजरी' आदि इस विषयके अच्छे ग्रंथ हैं। जैनोंमें आठवीं शताब्दिका 'बृहद कथाकोष' अपने ढंगका अच्छा है। वैसे श्वेताम्बरोंके 'नंदि-सूत्र' 'उपासक दशासूत्र' आदि अंग ग्रन्थोंमें भी यह साहित्य भरा पड़ा है। परन्तु वह अर्द्ध मागधी प्राकृत भाषामें है। संस्कृत भाषामें श्वेताम्बराचार्य सिद्धर्षिका 'उपमितिभवप्रपंच' कथा बिलकुल अनूठा ग्रन्थ है। कलाकी दृष्टिसे उसका स्थान बहुत ऊँचा है। अंग्रेजी साहित्यका 'Pilgrim's Progress' नामक ग्रन्थ ही उसकी समानता कर सक्ता है। पाली भाषामें बौद्धोंकी जातक कथायें मुख्य हैं। कहा जाता है, लोकके वर्तमान कहानी साहित्यकी जड़ उसीमें छिपी हुई है[१]। किन्तु प्रो० हर्टल सा० जैनोंके 'पंचाख्यान' को यह महत्व देते हैं[२]। गर्ज यह कि भारतीय कहानी साहित्य ही

१-मधुकरीकी भूमिका देखो। २-हर्टल सा०का 'जैन पञ्चतन्त्र' देखो।

इस विषयका आदि साहित्य है और उसमें भी जैनोंका साहित्य विशेष स्थान रखता है, यह विद्वानोंका मत है।

किन्तु हमारे यहा तकके कथनसे यह प्रगट नही होता कि हिन्दीमें कहानी साहित्यको कब स्थान मिला था? इसके लिये हमें हिन्दीकी जन्म-तिथिको टटोलना चाहिये।

हिन्दी साहित्यमें कहानीका स्थान।

विद्वानोका मत है कि हिन्दीकी उत्पत्ति सं० ७०० के लगभग हुई है और इसका निकाश अपभ्रंश प्राकृतसे हुआ है। यह बात है भी ठीक, क्योंकि हालमें जो दिगम्बर जैन भण्डारोंसे इस भाषाका साहित्य उपलब्ध हुआ है, उससे इस मान्यताका पूरा समर्थन होता है। इस साहित्यमें वैसे तो आदिपुराण, भविष्यदत्त कथा, यशोधर चरित, हरिवंशपुराण, पद्मचरित, सुदर्शनचरित, करकण्डुचरित, पार्श्वपुराण प्रभृति अनेक ग्रन्थ गिनाये जासक्ते हैं और यह सब सातवी शताब्दिसे बारहवी शताब्दि तककी रचनायें है, किन्तु छोटी छोटी कथाओं अथवा कहानियोंका संग्रह इन्हें नही कहा जा सक्ता। हॉ, यह बात जरूर है कि इनमें भी ऐसी कथायें बाहुल्यतासे मिलेंगी। इसलिए अपभ्रंश प्राकृत साहित्यमें हम समझते हैं, श्री श्रीचन्द्रमुनिका 'कथाकोष' ही इस विषयका प्रथम ग्रन्थ है। मुनि श्रीचन्द्रने इसे अन्हिलपुरके

---

1. Jaina narrative literature is amongst the most precious sourse, not only of folklore in the most precious comprehensive sense of the word, but also of the history of Indian Civilisation.

—Dr Hoernle.

२. मिश्रबन्धु विनोद व नागरी प्र० प० भाग २ पृ० १७२-१७३

राजा मूलराजके गोष्टिक (कौन्सिलर) कृष्णके लिये सन् ९४१–९९६ के लगभग रचा था। इसे उन्होंने ९३ संधियोंमें पूर्ण किया था और इसमें इतनी ही कथायें हैं, जो नैतिक और धार्मिक शिक्षाको लक्ष्य करके लिखी गई हैं। भाषा इतनी सरल है कि हम उसे प्राचीन हिन्दी कहनेको बाध्य है। नमूनेके तौरपर देखिये —

'संसारु असारु सव्वु अथिरु, पिय-पुत्त-मित्त माया तिमिरु।
संपय पुणु संपहँ अणुहरइ, खणि दीसइ खणि पुणु उसरइ॥'

इत्यादि।

इस दशामें यह कथाकोष हिन्दी कहानी साहित्यका पुर्वगामी मार्ग-चिह्न कहा जा सक्ता है। यद्यपि इससे पृथक अनुवाद रूपमें वैतालपचीसी, सिंहासनबत्तीसी, शुकबहत्तरी आदि हिन्दीकी कहानिया गिनाई जासक्ती हैं, परन्तु यह हिन्दीकी निजी वस्तु नहीं है। इसलिये 'रानी केतकी'की कहानीसे ही हिन्दीमें कहानीका सच्चा विकाश माना जाता है। यह कहानी गद्यमें सन् १८०३ ई०में एक मुसलमान लेखक इशा-अल्लाहखा द्वारा लिखी गई थी। इसे पढ़कर हसी आती है और यह एक खिलवाड़ मालूम होता है, ऐसा पं० विनोदशङ्कर व्यासजीका मत है, किन्तु उक्त पंडितजीके शब्दोंमें ही, केवल इस एक कहानीसे सवासौ वर्ष पहलेसे लेकर आजतककी हिंदी कहानियों, और साथ२ ही हिन्दी गद्यका विकाश कैसे हुआ, यह हम भली भांति जान लेते हैं [२]। आजकलकी कहानियां साहित्यक–कलाके अनूठे रत्न है; जिनके रत्नकार

१. जर्नल ऑव दी अलाहाबाद यूनीवर्सिटी पृ० १७१। २. 'मधुकरीकी भूमिका'।

श्री प्रेमचंदजी, उग्रजी, सुदर्शनजी प्रभृति विद्वान् हैं। और रत्नोंको परिष्कृत रूपमें प्रकट करानेका श्रेय सर्व प्रथम प्रयागकी 'सरस्वती' पत्रिकाको ही है। अस्तु,

हिन्दी जैन साहित्यमें कहानी।

हिन्दी साहित्यकी तरह जैनोंके हिन्दी साहित्यमें कहानियोंके लिये मुनि श्री चद्रका उक्त कथाकोष उल्लेखनीय है; परन्तु इसके अतिरिक्त तेरहवीं शताब्दिका 'जम्बूस्वामी रास'–१५ वी शताब्दिका "गौतम रास" और "धर्मदत्तचरित्र", १६ वीके "ललितांग-चरित्र", "यशोधरचरित्र" "रामसीता चरित्र" और "कृपणचरित्र" उल्लेखनीय हैं। इसमें 'कृपणचरित्र' एक छोटीसी बड़ी मार्मिक आख्यायिका है। इसमें एक कंजूस धनीका चरित्र चित्रित किया गया है। घेल्हके बेटे ठकुरसी नामके कविने इसे काव्य रूपमें रचा है। इसका प्रारंभ इस तरहपर है –

कृपणु एकु परसिद्धु नयरि निवसंतु निलक्खणु।
कही करम संजोग तासु घरि, नारि विचक्खणु॥
देखि दुहूकी जोड़, सयलु जग रहिउ तमासै।
याहि पुरिषकै याहि, दई किय दे इम भासै॥
वह रह्यो रीति चाहै भली, दाण पुञ्ञ गुण सील सति।
यह दे न खाण ग्वरचण किवै, दुवै करहिं दिणि कलह अति॥
इत्यादि।"

विचारी धर्मात्मा पत्नीको इसके आगे मन मसोस कर रह जाना पड़ता और हठात् मुह भी खोलना पडता। एक दिन कृप-

पकी स्त्रीने संघके साथ तीर्थयात्रा कर आनेके लिये उससे कहा। सेठजी यह सुनकर बड़े खफा हुये। दोनोंमें वाद छिड़ा—सेठानीने धनकी सफलता दान, भोग आदिमें बतलाई और सेठने इसका विरोध किया। फलतः सेठजी रूठकर घरसे चल दिये। मार्गमें उनका एक मित्र मिला। भाग्यसे वह भी कंजूस था। उसने कृपणकी गाथा सुनकर उसे सलाह दी'—

"ता कृपण कहै रे कृपण सुणि, मीत न कर मनमाहि दुखु।
पीहरि पठाइ दै पापिणी, ज्योंको दिण तूं होइ सुखु ॥"

कृपणने यही किया, स्त्रीसे कहा, तेरे माईके बेटा हुआ है और उसने तेरे बुलानेके लिये आदमी भेजा है। वह बेचारी चली गई और यात्रीसघ भी चला गया। जब संघ लौटकर आया और उसमें सेठने देखा, कई लोग मालामाल होगये है तो उसे बडा दुःख हुआ। वह रात दिन इसी दु.खमें दु.खी रहने लगा और आखिर मरणतुल्य होगया। लोगोंने उससे दान धर्म करनेकी बात कही, परतु उसने एक न मानी। उल्टे लक्ष्मीसे साथ चलनेके लिये प्रार्थना की, किन्तु लक्ष्मीने कहा कि 'मेरे साथ चलनेके जो कई दानादि उपाय थे, वे तूने किये नहीं; इसलिये मैं तेरे साथ नहीं चल सक्ती।' यह सुनकर कृपणके प्राण पखेरू उड़कर नरकमें तरह २ की यातनाए भुगतनेको पहुच गये और उसके चिरसंचित धनको कुटुम्बीजन मनमाने ढंगसे भोगने लगे। यही इस चरित्रका सार है।

उपरोल्लिखित कथा ग्रन्थोंके अतिरिक्त और भी कई एक चारित्र ग्रथो और कथाकोषोंका पता चलता है; परंतु वे सब ही

पद्यमय हैं । इसलिये हिन्दी जैन साहित्यमें
हिन्दी जैन साहित्यमें इन्हींसे कहानीका खास विकास हुआ नहीं
मौलिक कहानियां । कहा जासक्ता । इस विषयका, हमें सबसे
पहले, स० १७७७ का रचा हुआ 'पुण्या-
श्रव कथाकोष' मिलता है । इसे सस्कृतके आधारसे पं० दौलत-
रामजीने रचा था । इसके बाद 'आराधना कथाकोष' आदि ग्रन्थोंके स्वतत्र अनुवाद भी प्रकट हुये है, परतु इनसे हिन्दी जैन साहित्यमें मौलिक कहानीका श्रीगणेश हुआ नही कहा जासक्ता और सच पूछिये तो आजसे बीस-पच्चीस वर्ष पहले तक हिन्दी जैन साहित्यको यह सौभाग्य प्राप्त ही नही हुआ ! इस ओर सबसे पहले हमें बाबू जैनेन्द्रकिशोरकी 'मनोरमा' दृष्टिगत पड़ती है: परतु वह एक उपन्यास है और इसी तरह स्व० पडित गोपालदासजी बरैयाका 'सुशीला' उपन्यास भी इसी कोटिमें आता है । यह मौलिक रचनायें अवश्य हैं, परतु इन्हें कहानी साहित्यमें नहीं गिना जासक्ता । यदि हा, बरैयाजीने स्व-संपादित "जैन-मित्र" में छोटी छोटी कहानिया लिखी हों तो हमें उन्हें ही हिन्दी जैन साहित्यमें सर्व प्रथम मौलिक-कहानी-लेखक होनेका श्रेय देना होगा । किन्तु स्पष्ट रूपमें हमें लाला मुंशीलालजी एम० ए० का नाम इस दिशामें दृष्टिगत पड़ता है । आपकी 'कहानियोंकी पुस्तक' इस विषयकी पहली पुस्तक कही जासक्ती है; यद्यपि इसी समयके लगभग हमें प० बुद्धिलालजी कृत 'मोक्ष-मार्गकी सच्ची कहानियां' भी नजर आती हैं । अतः हिन्दी जैन साहित्यमें मौलिक कहानियोंका आरभ इन्हीं पुस्तकोंसे हुआ कहा

जासक्ता है। परन्तु कलाकी दृष्टिसे कहानियां रचनेका श्रीगणेश तो जैनियोंमें अभी ताजा ही ताजा है और इस सम्बन्धमें हमें श्रीयुत जैनेन्द्रकुमारजी, भाई ऋषभचरणजी, प० दरबारीलालजी, पं० मूलचद्रजी वत्सल, बाबू ताराचन्द्जी रपरिया और मि० रूपकिशोरजीके नाम याद पड़ते है। इन विद्वानोने हिन्दी साहित्यमें अनेक मौलिक कहानिया रच दीं है, और साथ ही जैनधर्म तथा जैन [illegible]को लक्ष्य करके भी इन्होने कितनी ही कहानिया लिखी हैं। इन साहित्य-सेवियोंके अध्यवसायसे हमें विश्वास है, हिन्दीका जैन साहित्य भी उच्च कोटिके कहानी साहित्यसे रिक्त नहीं रहेगा। अस्तु,

हिन्दी जैन साहित्यमें कहानी साहित्यके इस बाल्यकलाकी अवस्थामें यदि हमने यह अनधिकार प्रयास किया है, तो वह क्षम्य है। हम जानते हैं कि साहित्यकलाकी

हमारा उद्देश्य।

दृष्टिसे हमारी कहानियां ऊंचे दर्जेकी नहीं कही जासक्ती और इसलिये विद्वत्समाजमें उनका मूल्य विशेष न आका जाय, तो इसका हमें खेद नहीं है; क्योकि पहले तो यह हमारा प्रथम बाल प्रयास है और दूसरे हमारा उद्देश्य, इसमें साहित्य-पूर्तिके अतिरिक्त कुछ अधिक है। साधारणतया आज लोगोंमें यह धारणा होगई है कि जैनधर्मकी शिक्षा मनुष्योंको भीरु बनानेवाली है, उसका अहिंसातत्व अव्यवहार्य है और जैनोके कारण ही भारतका पतन हुआ है! जैन विद्वानोंकी ओरसे इस मिथ्या धारणाको गलत साबित करनेका प्रयत्न हुआ है; किन्तु इस मिथ्या धारणाको बिल्कुल नष्ट भ्रष्ट करनेके लिये जैन वीरोंके चरित्र प्रगट करके अहिंसातत्वकी व्यव-

-हारिकता स्पष्ट कर देना ही श्रेष्ठ है। बस इसी उद्देश्यसे हमने यह कहानियां लिखी है। इनके पढ़नेसे पाठकोको जैन अहिंसाकी सार्थकता और जैनोंके वीर पुरुषोंका परिचय विदित होगा और इसी बातमें इस रचनाका महत्व गर्भित है।

यह बात जरूर है कि हमने इन कहानियोके रचनेमें अपनी कल्पनाशक्तिसे काम लिया है, परन्तु इसके माने यह नहीं हैं कि यह कहानिया कपोल-कल्पित हैं। प्रत्युत

प्रस्तुत कहानियोंका आधार।

सच्ची ऐतिहासिक घटनाको लेकर, उसे हमने पल्लवित कर दिया है और यह काम हमारा निजी है। अतएव आधारके सत्य होनेके कारण इन कहानियोंमें किसी प्रकारकी शका करना व्यर्थ है। तो भी, इस बातको स्पष्ट करनेके लिये हम प्रत्येक कहानीका ऐतिहासिक आधार उपस्थित करके उनकी सत्यता स्पष्ट कर देना उचित समझते है·—

(१) पहले ही तीर्थंकर अरिष्टनेमिकी कहानी है और इसमें जरासिन्धुके साथ युद्ध करने एव शेष बातोंका जो उल्लेख है, उसका आधार श्री जिनसेनाचार्य प्रणीत " हरिवंश पुराण " है। (देखो सर्ग ५१)

(२) दूसरे सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्यका वर्णन है। इसका आधार जैन ग्रंथ और शिलालेख तो हैं ही किन्तु इसके साथ ही यूनानी लेखकोंके वर्णन और आधुनिक इतिहास ग्रथ भी है। तीसरी या चौथी शताब्दिके जैन ग्रथ "तिरलोयपण्णत्ति" से सम्राट् चन्द्रगुप्त

मौर्यका जैन मुनि होना स्पष्ट है[१] और श्री 'भद्रबाहु चरित्र'—'राजावलीकथे' और 'परिशिष्ट पर्व' में उनका चरित्र एक जैन सम्राट्के रूपमें अंकित है।[२] इन प्रमाणोंको देखते हुये उनके जैन होनेमें शंका करना व्यर्थ है। इसके साथ ही यूनानी लेखकोंके वर्णनसे चन्द्रगुप्तका हेलेनके साथ प्रेमालाप करना और उनका परस्पर विवाह होजाना स्पष्ट है।[३] अत. इस विषयमें शंका करनेको स्थान शेष नहीं है।

(३) इसके बाद 'सम्राट् ऐल खारवेल' का कथानक है और यह खण्डगिरि उदयगिरिके हाथीगुफावाले शिलालेखके आधारसे लिखा गया है। राजकुमारी सिंहपथाका युद्धमें खारवेलको साहाय्य पहुचाना एक उडिया काव्यसे स्पष्ट है[४] और शेष बातें उक्त शिलालेखमें कही गई हैं।[५] कौशलेश ऐलेयके वंशज होनेके कारण यह सम्राट् विरुद रूपमें अपने नामके साथ 'ऐल' शब्दको प्रयुक्त करते थे। जैन 'हरिवंश पुराण' से उनका ऐलेय-वंशज होना प्रमाणित है।[६]

---

१. 'मउडधरेसु चरिमो जिणदिक्खं धरदि चदगुत्तो य।'
—जैनहितैषी भा० १३ पृ० ५३१

२. जैन शिलालेख सग्रह (मा० ग्र०) भूमिका, पृ० ५४—७०

३. ऐंशियन इन्डिका और अर्ली हिस्ट्री ऑव इन्डिया, पृ० १२५.

४. धूसी चरित्र—प्राचीन कलिङ्ग नामक पुस्तक देखो.

५. जर्नल ऑव दी बिहार एण्ड ओड़ीसा रिसर्च सो०, भा० १३ पृ० २२१—२४६

६. हरिवंशपुराण, १७।१—३५.

(४) श्री चामुण्डरायजीके चारित्र विषयक घटनायें श्रवणबेलगोलेके शिलालेखों और संस्कृत एवं कनड़ी साहित्यसे स्पष्ट है।

(देखो 'वीर' का 'चामुण्डरायाङ्क' वर्ष ७ अंक १)

(५) गङ्ग नृपति मारसिंहने गङ्गवाडि (मैसूर) में सन् ९६१ से ९७४ तक राज्य किया था। उन्होंने राष्ट्रकूटवंशी राजा इन्द्रके लिये लड़कर राजसिंहासन दिलवाया था, यह घटना इतिहास सिद्ध है। (जैन शिलालेख संग्रह, भूमिका, पृ० ७२–७७) तथापि मारसिंहने अन्तमें जैनाचार्य अजितसेनके सन्निकट समाधिमरण किया था, यह बात भी इतिहाससे स्पष्ट है। (पूर्व पृ० ७२)

(६) होयसाल राजा विष्णुवर्द्धनके सेनापति गङ्गराज थे। उन्होंने राजाके लिये लडाइयां लडकर जैनधर्मकी प्रभावना की थी और विष्णुवर्द्धन शैव होनेपर भी जैनधर्म प्रेमी रहे थे, यह बातें श्रवणबेलगोलाके शिलालेखोंसे स्पष्ट है। (पूर्वप्रमाण पृ० ८८-९३)

(७) सेनापति हुल्लने राजा नरसिंहदेवके साथ जैनधर्म प्रभावनाके अनेक कार्य किये थे। उन्हींमेंसे एकका उल्लेख हमने किया है। (मद्रास और मैसूरके प्राचीन जैन स्मारक, पृ० २९२)

(८) वीरांगना सावियव्वेके चरित्रको बतानेवाला कनड़ी भाषाका एक सचित्र वीरगल (शिलालेख) सन् ९५०की श्रवणबेलगोलमें मौजूद है। (जैन शिलालेख संग्रह पृ० १४४–१४५)

(९) और सर्व अंतिम सती रानीका वर्णन गोंडे जिन्नेके

प्राचीन इतिहासके आधारपर किया गया है। (संयुक्तप्रांतके प्राचीन जैन स्मारक पृ० ६९–६६)

सारांशतः यह स्पष्ट है कि जिन घटनाओंको इस पुस्तकमें पल्लवित किया गया है, वह हमारा कोरा ख्याली पुलाव नहीं है। बल्कि वह ऐतिहासिक-वार्ता है और इसलिये

उपसंहार ।

हमारे उद्देश्यको सिद्ध करनेमें सहायक है। यदि पाठकोंका इनसे मनोरंजन हुआ और उन्होंने समुचित शिक्षा-लाभ किया, तो हम समझेंगे, हमारा तुच्छ प्रयास सफल हुआ। इस अवस्थामें हम इतिहास और शिलालेखोंके लेखकोंके साथ प्रकाशक महाशयका आभार स्वीकार करते हैं। यदि यह तुच्छ कृति अपनाई गई तो ऐसी ही अन्य पुस्तकें प्रगट करनेका उद्योग किया जायगा। किमधिकम्, इतिशम्।

अलीगंज (एटा)
वसन्तपञ्चमी
सन् १९३० ई०

विनीत—
कामताप्रसाद जैन।

रत्न-मालिका।

"जैनविजय" प्रिन्टिंग प्रेस-सूरतमें मूलचन्द किसनदास
कापड़ियाने मुद्रित किया।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।

नव-रत्न ।

(१)

तीर्थंकर अरिष्ट-नेमि ।

महा प्रचण्ड युद्ध था। कुरुक्षेत्रका कोना कोना वीरोंके जयघोषसे निनादित हो गया। वहाँकी तिल-तिल जमीनको वीरोंने अपने तनसे पाट दिया—शोणितकी सरिता बह चली! पर आर्यवीर बढ़ते ही गये! एक ओर जरासिंधु और कौरवोंका दल था और दूसरी ओर हरिवंशी यादव और उनके सहायक पाण्डवादिकी अक्षौहिणी बढ़ती चली जा रही थी। देखते देखते यादव-सेनामें कोलाहल मच गया—"चक्र व्यूह" "चक्र व्यूह"की आवाजसे आकाश गूंज उठा!

श्रीकृष्ण, अरिष्टनेमि और अर्जुनको परिस्थितिके समझनेमें देर न लगी—उनके परामर्शसे राजा वसुदेवने चक्रव्यूहको तहस-नहस करनेके लिये गरुड व्यूहकी रचना कर डाली! पचास लाख रण-पंडित यादवकुमार व्यूहके अग्रभागमें रक्खे और वह सब लोग अगाड़ी बढ़-बढ़ कर जरासिंधुकी सेनासे बाजी लेने लगे। फिर एक दफे योद्धाओंकी हुंकारोंसे दिशायें गूंज उठीं-रथसे रथ भिड़

गया, घोड़ोंसे घोडे जा भड़े और प्यादोंसे प्यादे जूझने लगे ! पैने भाले चमकने लगे, तेज तलवारें घूमने लगीं और तीर तरकससे छूट कर हवासे बातें करने लगे।

श्रीकृष्ण कुबेरके लाये हुये गरुड़-रथमें सवार होकर सेनाके हौसले बढ़ाने लगे। भगवान अरिष्टनेमिके लिये इन्द्रने अपना अस्त्रास्त्रसे सुसज्जित रथ भेजा और उसका सारथी मातलि भी साथमें आया। अरिष्टनेमि उस पर सवार होकर चक्र-व्यूहको भेदनेके लिये अगाड़ी बढ़ गये ! असंख्य-सेना-समूहमें उनका रथ हाथीके चिन्हसे अङ्कित अपनी ध्वजाको उड़ाता हुआ अलग दिखाई पड़ रहा था। भगवान अरिष्टनेमिके रण-कौशलने जरासिंधुकी सेनामें भयके भयानक बादल खड़े कर दिये और ऐसा मालूम पड़ने लगा कि यादव सेना इन्द्र-सैन्यकी तरह वृत्र-दल पर टूट पड़ी है !

चक्र-व्यूहको टूटते देर न लगी ! यादव-सेनापति अनावृष्णिने उसका मध्य भाग भेद डाला; भगवान अरिष्टनेमिने दक्षिण भाग तोड़ डाला और उसके पश्चिमोत्तर द्वारको अर्जुनने उखाड़ दिया ! चक्रव्यूह टूट गया और उसके टूटते ही जरासिंधुकी सेनाके छक्के छूट गये ! यादव शिविरमें जय-घोषका निनाद हुआ !

जरासिंधुके लिये यह असह्य था। वह श्रीकृष्ण और भगवान अरिष्टनेमिके सम्मुख आ डटा। अपने चक्रपर उसे बड़ा अभिमान था ! श्रीकृष्णपर उसने वह चलाया भी। लोगोंके दिल थर्रा गये, पर भगवान अरिष्टनेमि मुस्कराते रहे। चक्रने उनका कुछ भी न बिगाड़ा। श्रीकृष्णके हाथमें वह सुगमतासे पहुँच गया। इधर जरासिंधुके पैर तलेसे पृथ्वी खिसक गई ! दूसरे क्षण उसीके चक्रने

उसका वक्षस्थल भेद दिया। जरासिंधु भारी दिवालकी तरह जमीनपर लोटने लगा। यादव सेना विजयोल्लासमें मस्त द्वारिकाको लौट आई।

इन्द्रका सारथि मातलि श्री अरिष्टनेमिसे पूछ कर अपने स्वामीके पास चला गया। शत्रुकी विजयमें यादवगण आनन्दकेलियां करने लगे। किन्तु बहुतेरे विवेकी सज्जन संसारकी विचित्रताको देख कर आत्मस्वातंत्र्य लाभ करनेके लिये साधु हो वनको चले गये!

ग्रीष्मीके मारे लोग व्याकुल हो रहे थे-पृथ्वी सूर्यकी तेजीसे जल रही थी, पर तो भी गिरिनार पर्वत पर शीतल झरनोंकी गोदमें वह श्रीकृष्ण आदिको बड़ी प्यारी लगने लगी।

भगवान अरिष्टनेमि यद्यपि स्वभावसे ही उदासीन वृत्तिको अपनाये हुये थे; परंतु तो भी वह अपनी भावियोंका कहना न टाल सके। एक रोज वे सब उनको घेर कर सुदर्शन झील पर ले गईं और उनके साथ मनमाने ढंगसे जलक्रीड़ा करने लगीं! "उनमें कोई तो तैरने लगी, कोई डुबकी लगाने लगी और कोई कोई आपसमें पिचकारियोंसे एक दूसरीके मुख पर छींटे मारने लगीं।" उन्होंने भगवानको भी अछूता न छोडा। इस आनन्द-केलिके बाद भगवान अरिष्टनेमिने अपने गीले कपड़े बदले और नये वस्त्राभूषण पहन लिये। तब उनके पास श्रीकृष्णकी पटरानी जाँबवती खड़ी हुई थी। भगवान उनसे कटाक्ष रूपमें बोले, "भाभी! यह धोती निचोड़ती लाना।"

नारायणकी पत्नी जाँबवतीको भगवानका यह विनोद-वाक्य चाट गया। वह भौंहोंमें बल डालती हुई बोली; "वाह लाला,

खूब मजाक करते हो—बड़ा साहस आपका ! बड़े भाईके नाम और कामको भूल गये ! उन जैसे जरा हो लो, तब ऐसी बातें कहना।"

"हां ! यह बात है भाभी !" श्री अरिष्टनेमिने उत्तर दिया, "तो आज ही लो मै आपकी इस शुभोक्तिको तौल–नाप लूंगा। बड़े भाईके पुरुषार्थको चुनौती दे दू, तब ही धोती छांट देना। कहो, रही न बात पक्की ?"

जाबवती जलकर आग बबूला होगई। वह अभी मुंह भी न खोल पाई थी कि महाराणी रुक्मिणी आदिने बीचमें ही उसे डॉट दिया। वे बोली–"अरे निर्लज्ज ! ये भगवान तीन लोकके स्वामी तीर्थङ्कर हैं, इन्हें क्यो तू इस प्रकार घृणाकी दृष्टिसे देखती है ?" जाबवती खिसियानीसी अपने रनवासमें चली गई।

उधर भगवान अरिष्टनेमि सीधे नारायण कृष्णकी आयुध-शालामें जा पहुचे। वह श्रीकृष्णकी नागशय्या पर चढ़ गये और उनके शङ्खको उठा कर बडे जोरसे बजा दिया। अचानक इस शखध्वनिको सुन कर यादवोंको बडा अचरज हुआ ! श्रीकृष्ण अपने सखा-सहचरो सहित शस्त्रागारमें पहुचे और भगवानको नागशैया पर धनुष-बाण चढाये देख कर विस्मयमें डूब गये। कोई भी इस भेदके पर्देको उठानेमें समर्थ न था—सब ही भगवानकी ओर एकटक निहार रहे थे !

इतनेमें ही भीड़मेंसे किसीने कहा, "भगवान नेमिनाथने जॉबवतीको चिढ़ानेके लिये यह काम किया है।" श्रीकृष्णने यह शब्द सुने और उन्होंने बड़े प्रेमसे भगवान् अरिष्टनेमिको अपनी छातीसे लगा लिया !

सब लोग खुशी खुशी अपने अपने घर चले गये। श्रीकृष्ण भी राजमंदिरमें पहुंच गये परंतु भगवानके उक्त कार्यको वे भुला न सके। उनकी प्रियतमा जॉववतीका गर्व तो इस कार्यसे खर्व हुआ ही था, किन्तु भगवानके अटूट साहस और अतुल बलने उन्हें और भी सशङ्क बना दिया ! श्रीकृष्ण कुछ देर सोचते रहे और फिर मुस्कराते हुये बोले, "नेमिनाथका विवाह भोजवशी राजा उग्रसेनकी राजकुमारी राजमतीसे शीघ्र होगा। सब लोग इस विवाहोत्सवको सानन्द सम्पन्न करो।"

यादवोंने श्रीकृष्णके इस आदेशको बड़े हर्षभावसे ग्रहण किया और वे लोग भगवानके विवाहकी खुशीमें विविध रंगरेलियां मनानेमें लग गये।

गिरिनारकी कटीली और पथरीली पगडडियोंको लांघती हुई, बेचारी राजमती उस ओर बढ़ी चली जारही थी, जहां भगवान अरिष्टनेमि ध्यान लगाये बैठे थे। राजमतीका करुण विलाप गिरिराजकी कठोर शिलाओंसे टकराकर नष्ट होरहा था, मानो वह यही कह रहा था कि "जा, लौट जा, राजुल! नेमिनाथको अपने अंकमें बिठाकर मैंने अपने जैसा ही दृढ बना लिया है। तेरा विलाप कुछ काम न आयेगा !" किन्तु राजकुमारीकी ठीक वही दशा थी, जो चकवाके बिछोहमें चकवीकी होती है। गिरिराजकी कटु-उक्ति उसकी सूझमें न आई ! अपनी दयार्द्र दशासे वन-जंतुओं तकके दिलोंको हिलाती हुई, वह आखिर भगवान नेमिनाथके पास पहुंच गई और उन्हें तरह२के उलहने देने लगी। पर भगवान टससे मस न हुये।

राजमती तो भी चुप नहीं हुई और अन्ततः उसके इस वाक्यने भगवानके मौनको भङ्ग कर दिया। वह बोली, 'प्रियतम्! आपने क्षुद्र पशुओंके प्राणोंका तो इतना मूल्य समझा, और उनपर अपनी दयाका झरना बहा कर ही शांत न हुये, बल्कि उनके मिससे मुझ निरपराधिनीको बीच मंझधारमें ही छोड़ कर यहां आ जमें; परंतु यह तो बताइये कि उस रोज आपकी दया कहां गई थी जिस रोज जरासिंधुके सैन्यमें बढ़ बढ़ कर आप नर-मुण्डोंके ढेर लगा रहे थे? क्या मुझ अनाथिनीपर यह अन्याय नहीं है?"

भगवान राजमतीकी इस कटोक्ति पर तनिक मुस्कराये और फिर कहने लगे, "राजकुमारी! मिथ्या मोहके उद्वेगमें तुम इस समय बही जारही हो; यही कारण है कि तुम वस्तुस्थितिको देखनेमें असमर्थ हो।"

"प्रिय आर्य! भला अपने सर्वस्वके लिये छटपटाना भी कहीं मिथ्यात्व होसकता है?" राजमती बीचमें ही बोली–

भगवानने उत्तरमें कहा–"राजुल! यही तो बात है–जगके लोग जिसे सच्चा समझते है, वह बिल्कुल धोखेकी टट्टी है। प्रत्येक प्राणीका सर्वस्व उसकी निज आत्मा है। यह भूल है, जो अपनेसे भिन्नको ही कोई अपना सर्वस्व समझे। सच तो यह है कि चाहे स्त्री हो या पुरुष, प्रत्येक प्राणीको आत्मस्वातंत्र्य प्राप्त करनेका उद्योग करना परम उपादेय है। गृहस्थ रूपमें भी उन्हें इस मूलतत्वको न भूलना होगा।"

"महाभाग! यदि आपकी यही सूझ थी तो फिर कुरुक्षेत्रमें

क्यों पहुंचे और क्यों मुकुट पीतांबर पहन, कंकन बांधकर बैरे चित-चोर बन गये?"—राजुलने कहा—

भगवान बोले—"राजकुमारी! मोहने तुम्हारे विवेकको छुपा दिया है। जरा सोचो, गृहस्थ जीवनमें मनुष्यको धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थोंका साधन करना होता है—उस दशामें मोक्ष पुरुषार्थ उसके लिये दूरकी वस्तु है। कुरुक्षेत्रमें यादवों और जरासिंधुका युद्ध अन्यायके प्रतीकारके लिये हुआ धर्मयुद्ध था। उसमें भाग लेना और अपने देशकी रक्षा करना मेरा राष्ट्रधर्म था। दूसरे शब्दोंमें कहू तो यह कर्म, धर्म और अर्थ पुरुषार्थको व्यक्त करना था। यह कार्य प्रगटतः अवश्य ही दयामूलक धर्ममई नहीं जंचता। परन्तु उसकी जड़में प्राणीके दयामय धर्मभाव ही कार्यकारी है। अहिंसक वीर अवश्य ही जानबूझकर किसी भी जीवको कष्ट नहीं पहुंचाता, प्राण हीन करना तो दूरकी बात है। किन्तु इतनेपर भी तीर्थंकरोंने उसे विरोधी हिंसाका पातकी नहीं ठहराया है। आततायियोंको उचित दंड देना उसका धर्म है। मेरा युद्धमें भाग लेनेका यही रहस्य है। रही व्याहकी बात, सो राजुल! अबकी ही क्या, नौ भवोंसे मेरा तेरा साथ रहा है और तौभी संतोष न हुआ तो अब क्या होगा? इसलिये आत्मस्वातंत्र्य लाभ करना ही मैंने उचित समझा है।"

राजमती भगवानके वचनामृतको एकटक पी गई और वह उनके मुखकी ओर चुपचाप निहारती रही। गुरुजनोंने उसे प्रतिबुद्ध किया और वह भी साध्वी हो सन्यास ले गई। श्री नेमि और राजुल कर्मशत्रुओंसे बढ़ चढ़कर युद्ध करनेमें जुट गये।

भगवान् अरिष्टनेमि अन्तमें कैवल्यपदको प्राप्त हुये थे और उन्होंने साक्षात् तीर्थंकर रूपमें सर्वत्र विहार करके लोकके दुःखी जीवोंका अपने धर्मोपदेशसे बड़ा उपकार किया था। जैनोंके २४ तीर्थंकरोंमें वह बावीसवें थे और गिरिनार पर्वतसे उन्होंने मोक्षलाभ किया था। राजमती भी एक आदर्श तपस्विनी बनकर लोकका कल्याण करती हुई स्वर्गधाम सिधारी थी। तबसे भगवान् नेमिनाथकी उपासना बराबर जैनियोंमें होती आरही है। जैनियो हीमें क्यों, प्रत्युत वैदिक मतानुयाइयोंमें भी वे आदरकी दृष्टिसे देखे गये हैं-'ऋग्वेद' (प्रथमाष्टक अ० ६ वर्ग १६)में है कि अरिष्टनेमि हमारा कल्याण करे। (स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि') यजुर्वेद (अ० ९ मं० २९)में भी इन्हीं राजा नेमिको आहुति भेट की गई है। इसी प्रकार 'महाभारत' (वनपर्व अ० १८३ प्र० २७)में भी भगवान अरिष्टनेमिका स्मरण किया गया है। वहां लिखा है कि-'महात्मा मुनि अरिष्टनेमि हैहयवंशी काश्यपगोत्री थे। सबने महाव्रतधारी अरिष्टनेमि मुनिको प्रणाम किया।' (महाभारत छपी १९०७ सरतचंद्र सोम) आओ, पाठक! इन भारतरत्न भगवान् अरिष्टनेमिको हम भी प्रणाम करलें।

(२)

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ।

चांदनी रात थी। पूर्णमासीका चन्द्रमा नीलाकाशमें छिटक रहा था। इसी समय एक युगल-दम्पति वृक्ष-तले प्रेमाबद्ध खडे थे, मानो वृक्ष-लताओंसे प्रणयका पाठ ही सीख रहे हों। युवक देखनेमें बड़ा ही सुंदर और भाग्यशाली राजकुमार जान पड़ता था। उसके मुख-मण्डल पर रूप और प्रतिभाकी रश्मियां केलि कर रहीं थीं। आयुमें युवतीसे वह कुछ अधिक था और रंग भी उसका भारतीय क्षत्रियों जैसा गेहुवां था। पर वह युवती उससे कहीं ज्यादा गोरी और कम उम्र थी, वह पूरी मेम सरीखी थी! उसकी आंखें बडी बडी थीं और बाल सुनहले और लम्बे थे। कमर केहरीकी तरह पतली और चपलता मृगके बच्चेकी चंचलताको भी मात करती थी। सच पूछो तो सुन्दरी राजकुमारके दृढ़ आलिंगनमें कृष्ण और रुक्मिणीकासा आभास देरही थी। राजकुमारने उससे कहा:—

"तो आप यूनानी सरदारकी बेटी हैं?"

युवती उत्तरमें बोली, 'हा मेरे पिता इस यूनानी शिविरके अधिपति हैं।"

"अहा! समझा! आप शत्रु-कन्या हैं?" राजकुमारकी इस बातपर युवती चौंक पड़ी और बोली—"तो क्या आप ही सम्राट् चन्द्रगुप्त हैं?"

"हां प्रिये! जिसके प्रति तुमने प्रेम-वारि बहाया है, वह चन्द्रगुप्त ही है। पर घबड़ाओ मत; मैं जितना ही उद्दण्ड सैनिक

हूँ उतना ही भावुक प्रेमी भी हूँ। तुम्हें अपने हृदयका हार बना कर रक्खूंगा, प्यारी हेलेन !" चन्द्रगुप्तने यह कहते हुये हेलेनका मुख चूम लिया।

"भाग्यकी बात भाग्य जाने" हेलेन बोली, "पर मेरे लिये यह अनहोनी क्यों कर होवे ?" चन्द्रगुप्तने कहा, "क्यों ? तुम्हें तो यह देश बड़ा प्यारा है !"

"यह देश—यह हराभरा देश सचमुच बड़ा प्यारा है और आपकी निकटतामें तो उसका मोल आंक लेना, मेरे लिये असंभव है।" हेलेनके इन वाक्योंको सुन कर चन्द्रगुप्तने कहा—"तो फिर निराश क्यों होती हो ?"

"निराश ! निराशा ही भाग्यमें बदी हो तो ?" हेलेन बोली।

चन्द्रगुप्तने कहा—"इस निराशाके खण्ड खण्ड मेरी तलवार कर देगी और प्यारी हेलेन मेरे महलोंकी रानी बनेगी !"

हेलेनने कटाक्ष किया—"प्रेम अंधा होता है-सोचिये, आप एक यूनानीकी कन्याको अपनी रानी बनानेमें समर्थ होंगे क्या ?"

चन्द्रगुप्तने कहा—"क्यों ! क्या हुआ ? धर्म-शास्त्र मनुष्य२ में भेद नहीं बतलाते। मैं ही क्या अनोखा हूं ! तीर्थंकर शांतिनाथ जैसे महापुरुषोंने तो म्लेच्छ कन्याओंको अपनी पत्नी बनाया था। कल ही की तो बात है; नन्दराजाने एक शूद्राके साथ विवाह किया था। प्यारी ! हमारे धर्म और देशमें मनुष्योंको मनुष्य ही समझा जाता है, फिर वे चाहे जिस देश या कुलमें जन्मे हों। हां ! ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भेद अवश्य हैं, पर वह मात्र कल्पना है, राष्ट्रकी व्यवस्थाको ठीक रखनेके साधन मात्र हैं और गुण कर्म-

पर टिके हुये हैं। तुम जरा भी भय न करो। राजमहलमें तुम्हीं मेरी दुलारी रानी होगी।"

हेलेन जरा होठोंमें मुस्कराई, पर दूसरे ही क्षण गम्भीर होकर बोली—"यह भी ठीक सही; पर पिताजीकी स्वीकारता मिलना तो कठिन है।"

चन्द्रगुप्त भी असमंजसमें पड़े बड़बड़ाये—"हां, है तो टेढ़ी खीर।" पर दूसरे ही क्षण संभलकर बोले—"लेकिन मेरी बाहोंमें बल है तो कोई भी तुम्हें मुझसे अलग नहीं कर सकता।"

"हां! यह घमण्ड है तो आ मुझसे निबट ले। अकेली दुकेली रमणियोंको बहका लेनेमें क्या बहादुरी है?" एक टोप कल्लर पहने हुए पुरुषने सामने आकर कहा।

चन्द्रगुप्त और हेलेन हड़बड़ा गये—उनके समय प्राप्त प्रेमालापमें आज यह दालभातमें मूसरचंदकी तरह कौन कूद पड़ा? हेलेनको बाह्य आकृतिसे पहचाननेमें देर न लगी। चन्द्रगुप्त और टोपकल्लर धारीके बीचमें पड़कर वह बोली—"पिताजी! यह सम्राट् चद्रगुप्त है। मैं इन्हें स्वयं प्यार करती हूं। यह बड़े अच्छे हैं।"

सिल्यूकसने झिड़की दी—"चुप छोकरी! आज मैं इसका साहस देखूंगा।" क्षत्री चंद्रगुप्तकी नसोंमें खून खौलने लगा और वह अपनी तलवार सभालते हुए अगाडी बढ़नेको ही थे कि पेड़की आडमेंसे चाणक्यने प्रगट होकर ललकारा—"खबरदार, यवन सरदार! तुम्हारा यह साहस! सम्राट्से पीछे, पहले इस भारतीय सैनिकसे ही निबट लो।"

सिल्यूकस इस भीमकाय व्यक्तिके अकस्मात् आगमनपर भौंच-

झांसा रह गया। वह द्विविधामें पड़ा, अभी कुछ निश्चय न कर पाया था कि हेलेन पिताके पैरोंपर गिरकर फूट फूटकर रोने लगी। सिल्यूकसके कठोर हृदयको इस करुण दृश्यने नरम बना दिया। वह पसीज गया। चाणक्य इस सुअवसरकी बाटमें थे, झट बोले—

"यवन सरदार! भारतीय और यवन सेनाओंके बल और चातुर्यका परिचय किसीसे छिपा नहीं है। अब और अधिक रक्तपात करनेमें मजा नहीं है। मानो प्रकृतिदेवीने स्वय इस विरोधको प्रेमाभिनयमें पलट दिया है। देखो' उसके इस आदेशको मत ठुकराओ।"

सिल्यूकस कुछ न बोला। वह सबको अभिवादन करके अपने शिबिरको चला गया। दूसरे ही दिन यूनानियोंके सैन्यदलमें आनन्दोत्सव मनाया जाने लगा, हर किसीकी जबानपर था—"हेलेनका विवाह चन्द्रगुप्तसे होरहा है।"

चन्द्रगुप्तको हेलेन मिली और हेलेनके साथ अफगानिस्तानका प्रांत। दम्पतिके प्रथम सम्मिलनमें चन्द्रगुप्तने हेलेनका अधरामृत पान करते हुए कहा—"अब तो यह देश तुम्हें न छोड़ना पडेगा, मेरी रानी!" हेलेनकी आंखोंने मादक हँसी हँस दी।

दिन बीतते देर न लगी। चन्द्रगुप्त और हेलेनके स्मृतिपट परसे प्रेम-मिलनकी पहली झाँकी अब ओझल हो चली थी। वह रलमिलके दो तन एक दिल तो बहुत पहले ही हो गये थे। अब उन्हें विवेककी बातें बड़ी प्यारी लगतीं थीं। पाटलिपुत्रमें देवेन्द्रके महलको चुनौती देनेवाले राजमहलके झरोकेमें बैठकर वे ज्ञानकी बातें किया करते थे। 'समय-नटके हाथमें पड़ कर मनुष्य कैसे२

नाच करता है,' यह उन्हें देखते ही कोई पुराना सैनिक अनायास कह उठता था। 'एक दिन वह था जब यही महाराज चन्द्रगुप्त अपनी तलवारको सदा म्यानके बाहर किये हुये अरिकुलके लिये काल स्वरूप थे और आज वे ही ज्ञानी-विवेकी हैं ! भई, यह जगतकी लीला है नटखट मनका नाच है।' ऐसी बातें सुन कर कोई धर्म प्रेमी शिक्षित सैनिक बोल उठता-' अरे, इसमें कौनसी अचरजकी बात है ' रघुकुल–सूर्यवंशमें तो यह रीति सदासे चली आई है कि बुढ़ापेको पहुचते न पहुचते राजागण तपोभूमिकी शरण लेने और जनकल्याणमें निरत होते थे। आश्चर्य तो यह है कि हमारे महाराज इतनी बड़ी उम्रमें भी राज काजमें पगे हुये हैं।' तीसरा कहता—' हाँ भाई, कहते तो ठीक हो. महाराजको अब किस बातकी कमी है ' दिग्विजय वह कर चुके, युवराज सियाने हुये, अब महाराजको तपोधन बनते देर न लगेगी।' भारत-सम्राटके विषयमें ऐसी चरचा होती रहे और उन्हें पता न लगे यह अनहोनी बात है। सच बात तो यह है कि चन्द्रगुप्त हेलेनसे अभी यही बातें कर रहे थे कि उनकी दृष्टि राजमार्गसे जाते हुये परम-साधु श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुजी पर जा गिरी, उन्होंने खड़े होकर नमस्कार किया, हेलेन भी नमस्कार करनेमें पीछे न रही ! हेलेनका हाथ हाथमें लेते हुये चन्द्रगुप्त बोले—"हेलेन ! चलो आहारकी वेला हो गई है। गुरुमहाराजका आदर सत्कार करें।"

हेलेनने अपने पतिके यह शब्द सुने तो जरूर, परन्तु उसके कान चन्द्रगुप्तके पास होते हुये भी नेत्र मुनिराजके धूल-धूसरित कृश शरीर पर ही अटके हुये थे। वह हड़बड़ाके बोली—

"पर देखो तो नाथ ! आज गुरुमहाराज तो राजमहलका सिंहद्वार लाँघ गये। वह लौटते भी नजर नहीं आते।"

चन्द्र०—"अरे हाँ, भगवान तो एकटक चले ही जा रहे यह क्या बात है ?"

प्रतिहारीने प्रगट होकर निवेदन किया—"महाराजाधिराज ! आज नगरमें बड़ी अनहोनी बात हो गई।"

चन्द्र०—"क्या हुआ वत्स ?"

प्रति०—"प्रजावत्सल सम्राट् ! जब तपोधन भगवान भद्रबाहु-स्वामी नगरश्रेष्टीके यहां आहारके निमित्त घुसे, तो पालनेमें झूलते हुये अबोध शिशुने उन्हें लौट जानेको कहा। महाराज वहांसे सीधे तपोभूमिको विहार कर गये हैं।"

चन्द्र०—"सचमुच यह बड़े अचरजकी बात है। चलो हेलेन, श्री गुरुकी वंदना कर आवें।"

प्रतिहारीके मुखसे सम्राट्के गुरु वंदन यात्राकी खबर चारों ओर फैल गई।

चन्द्रगुप्त और हेलेनने देखा कि श्रुतकेवलि भद्रबाहुकी लोक-कल्याणक धर्मदेशना हो रही है। उन्होंने दूरसे उनको नमस्कार किया और एक ओर उपयुक्त स्थान पर बैठ गये। धर्मोपदेशको सुनते हुये हेलेनके मनमें एक शङ्काने जन्म ले लिया। वह श्री गुरुसे उसका समाधान करानेकी प्रतीक्षामें रही। भगवान्का धर्मो-पदेश पूर्ण हुआ और वह बोली—"पूज्यवर, आपकी वाणी अज्ञान तिमिरको नाश करनेमें समर्थ है। प्रभो, मेरी मूढ़ बुद्धि यह समझनेमें

असमर्थ है कि एक सैनिक अहिंसाव्रतको कैसे पाल सकता है ?"

भगवान् बोले—"सुन श्रेष्ठ श्राविका, तेरा समाधान अभी होता है। ऋषियोंने अहिंसा धर्म दो तरहका बताया है—(१) अहिंसा महाव्रत और (२) अहिंसा अणुव्रत। प्रथम व्रतको गृहत्यागी साधुजन ही धारण करते हैं। वही अहिंसा धर्मको पूर्णत: पालन करनेमें समर्थ हैं। गृहीलोग उसका पूर्ण पालन नहीं कर सके उनके लिये इस व्रतका दूसरा आंशिकरूप ही पर्याप्त है। गृहस्थोंके पास धन-दौलत, पृथ्वी-मकान, कपड़े-लत्ते, जेवर-जाथा और न जाने क्या क्या परिग्रह है। उन्हें उसकी रक्षा करना आवश्यक है। इसलिये ही सर्वज्ञ प्रभूने उनको आरंभ और विरोधजनित हिंसाका पातकी नहीं ठहराया है। व्यापार-उद्योग आदिमें जो हिंसा होगी वह उनके लिये क्षमा है और अपने परिग्रह एवं अन्य स्वत्वोंकी रक्षाके लिये विरोधियोंको समरभूमिमें उचित दण्ड देते हुये जो हिंसा होगी, उसके भी वे भागी नहीं हैं। सैनिकका आततायीको सन्मार्ग पर लानेके लिये तलवार चलाना धर्ममें मना नहीं है। मनाई है तो सिर्फ जानबूझ कर कषायोंके आवेशमें किसी प्राणीके प्राण लेनेकी। भला, यह कौन चाहेगा कि मैं मारा जाऊं ? सबको अपने प्राण प्यारे हैं इसलिये यथाशक्ति अहिंसा धर्मका पालन करना ही श्रेष्ठ है। भव्यात्मा ! अब तेरी आत्मसंतुष्टि हो गई ना ?"

हेलेनने 'तथास्तु' कह कर भगवान्को नमस्कार किया। उपरांत चन्द्रगुप्तने देखा, स्वामी उनकी ओर आकृष्ट हैं। उपयुक्त अवसर जान कर उन्होंने पूंछा "भगवन् ! आज आप निराहार ही लौट आये, इसका क्या कारण है ?"

श्रुतकेवलि भद्रबाहुने उत्तरमें कहा-"मगधेश ! तुम्हारे इस प्रश्नका उत्तर तो स्वयं ही प्रगट होनेवाला था। सुनो, आज एक अबोध बालकने मुझसे लौट जानेको कहा और मैंने अपने ज्ञानके बल देखा, तो इस निमित्तका महा भयानक फल जाना। सम्राट्, भावी अमिट है। मगधमें शीघ्र ही घोर दुष्काळ पडने वाला है और उसका परिणाम जैनसघके लिये अत्यन्त कटुक है। धर्मोत्कर्षके भावसे मै समस्त जैनसघके प्रति आदेश करता हू कि वह सुकालवर्ती दक्षिण भारतकी ओर प्रयाण करनेको तत्पर हो जायें। राजन्, मेरे निराहार लौट आनेका यही कारण है।"

चन्द्र०-"प्रभो, आपकी इस भविष्यद्वाणीको सुनकर मैं भयभीत हू। मेरे लिये आपकी क्या आज्ञा है ?"

भद्र०-"वत्स, राजाका धर्म है कि प्रजाकी हितरक्षा और उसके धर्मकी वृद्धि करना। सकट कालमें भी तुम अपने कर्तव्यसे च्युत न होना। मैं तो कल यहासे प्रयाण कर जाऊगा। देखो, आत्मकल्याण करना न भूलना। मनुष्य जन्मका यही सार है।"

चन्द्र०-"गुरुवर्यका आदेश सिर आखोंपर धारण करता हू—पर प्रभो, आपका वियोग मेरे लिये असह्य है !"

भद्र०-"भूल है, चन्द्रगुप्त, यह बड़ी भूल है। मोह करना फिजूल है। जाओ धर्मवृद्धिका लाभ हो !"

चन्द्रगुप्त और हेलेनने गुरुमहाराजके चरण कमलोंमें मस्तक नंवाया और वे राजमहलको लौट चले। मार्गमें हेलेनने पूछा-"श्री गुरुके दर्शन पाकर प्रसन्न होनेके स्थान पर, प्रिय, उदास क्यो हो ?" चन्द्रगुप्त कुछ न बोले और गहन विचारमें डूबे हुये राजमहल पहुंच गये।

हेलेन घबडाई हुई चन्द्रगुप्तके पास आकर बोली—"नाथ, मैं यह क्या सुन रही हूं? अरे! यह क्या देख रही हूं? आप और यह भेष? क्यों? यह न होनेका।"

चन्द्र०—"भूल, बडी भूल! हेलेन! गुरु महाराजके उपदेशको भूल गई।"

हेलेन—"जब मैंने यह सुना कि युवराज बिन्दुसारका आपने राजतिलक कर दिया, तब ही मेरा माथा ठनका था। नाथ! त्याग धर्मको घरमें रहकर ही पालन करो, मुझे अनाथ न बनाओ।"

चन्द्र०—"फिर भूलती हो, हेलेन! अपने निश्चयरूपको देखो! कहो, तुम अनाथ हो?"

हेलेन—"अहा! मैं समझी, आप तो 'परमपद' के विहारी होगये है। मेरा अनुनय विनय करना वृथा है। अच्छा प्रभो! नमस्कार, शतवार नमस्कार! राजर्षि! दासी भी आत्मकल्याणके मार्गसे अब भटकी न रहेगी। आशीर्वाद दो प्रभो! मेरा कल्याण हो।"

चन्द्र०—धन्य हो देवी! तुम्हारा अवश्य ही कल्याण होगा।

श्रवणबेलगोलके कटवप्र पर्वतपर अपार जनसमूह उमड़ा चला आरहा है। कोई 'श्रुतकेवली भद्रबाहुकी जय' के नारे लगा रहा है, तो कोई 'राजर्षि चन्द्रगुप्तका' जयघोष कर रहा है। इन दोनों महापुरुषोंका यहींपर समाधिमरण हुये अधिक समय नहीं बीता है। इन्हीं महापुरुषोंकी पवित्र स्मृतिमें सम्राट् बिन्दुसार और युवराज अशोकवर्द्धनने कई भव्य जिनमंदिर और निषधिकायें निर्माण

करा दिये और वे स्वयं इस पवित्र स्थानकी वंदना करनेके लिये उपस्थित हुये थे। श्रीभद्रबाहु और चन्द्रगुप्तके नामको उन्होंने अमर कर दिया। कटवप्र पर्वत चन्द्रगुप्तको अपने भाग्यशाली अंकमें धारण करनेके कारण " चन्द्रगिरि " नामसे प्रसिद्ध होगया और उसपर सम्राट्की जीवन घटनाओंके मनोहर चित्र आज भी उकेरे हुए देखनेको मिलते है। मुकुटबद्ध राजाओंमें सर्व अंतिम चंद्रगुप्त मौर्य ही ऐसे सम्राट् थे, जिन्होंने श्री दिगम्बरीय जिन दिक्षा ग्रहण की थी, यह बात आज भी इन स्मारकोंसे स्पष्ट है।

(३)

सम्राट् ऐल खारवेल।

सफेद घोड़ेपर सवार राजकुमारने कहा—' बड़ा घना जंगल है। पेड़ोंने गलबइयां डालकर रास्ता ही रोक रक्खा है ! देखो, पगडडोका भी चिन्ह दिखाई नहीं पडता ! "

दूसरे घुड़सवारने जवाब दिया—" युवराज, आप सच कह रहे हैं। इस गहन वनसे सकुशल निकल चलना भाग्य भरोसे है। पर एक बात है, आप कहें तो मैं वनदेवीको प्रसन्न करनेके लिये यहीं आसन जमाकर जम जाऊं ! "

राजकुमार बोले—"तुझे आफतमें भी मसखरापन सूझा है।"

घुड०—" नहीं अन्नदाता; लो मैं आपसे अगाड़ी चला ! "

राज०—" अरे मूर्ख, मैंने यह थोडे ही कहा था, कि तू मुझे छोड़कर चलता बन। देख, उधर सामनेकी ओरसे कुत्तोंके भूकनेकी आवाज आरही है। जा, वहा आदमी जरूर होंगे—उनसे कलिङ्ग-शिविरका रास्ता पूछ आ। "

घुड—" अच्छा महाराज, यह लो। "

राजकुमार भी उसके पीछे हो लिये। अभी वह बहुत दूर नहीं गये थे कि साथी घुडसवारने लौटकर कहा—" महाराज, मेरी भावना तो सफल होगई ! "

राज०—" आखिर देखा क्या ? "

घुड—" बस, कुछ न पूछिये—साक्षात् वनदेवी प्रसन्न होकर प्रगट हुई हैं। "

राज०—"फिर वही मसखरेपनकी बातें ! ठीक २ बता, रास्ता पूंछकर आया था नहीं ! "

घुड़—"दुहाई महाराजकी ! मैं झूठ नहीं बोलता । चलिये आप आंखोंसे बनदेवीके दर्शन कर लीजिये ।"

इसपर दोनों व्यक्ति अगाड़ी बढ़ गये । उन्होने देखा एक कलकलनिनादपूर्ण पहाड़ी झरना बह रहा है और उसके दोनों किनारोंपर कदम्ब आदिके सुन्दर वृक्ष खड़े हुये है । इन्ही वृक्षोंके एक प्राकृत झुरमुटमें कुछ कन्यायें बैठी हुई हैं । उनमेंसे एक साक्षात् वनदेवी और रतिके रूपको चिनौती देरही है । उसके हाथोमें तीर-तरकस मानो उसे रण-चन्डीका प्रतिनिधि ही व्यक्त कर रहा है । शरीर यद्यपि स्थूल नहीं, पर लम्बा और हृष्टपुष्ट था । और उसके मुखमण्डलपर एक अपूर्व प्रतिभा नाच रही थी । राजकुमार एकटक उसकी ओर निहारते रह गये । दूसरे क्षण उनकी तन्मयताको घुड़सवारने भग कर दिया । वह बोला—"महा-राज ! अब दिलवाइये पुरस्कार ! कहिये, मेरा झूठ कितना सच है ?"

राज०—"चुप रहो, ग्वाल-कन्यायोंके लिये इतना अभिमान न करो ।"

"हैं ! ग्वाल-कन्या ! यह भी देखिये" कहता हुआ घुड़-सवार कन्यायोंके पास पहुच गया और बोला—"बहनो, हम दो पथिक इस वनमें भटक गये है । तुम रास्ता जानती हो तो बता-नेकी दया करो ।"

उनमेंसे एकने कहा—"पथिक, आप पूर्वकी ओर सीधे बढ़ जाइये । थोड़ी दूर चलनेपर आपको भेलिगसे विदिशाको जानेवाला

राजमार्ग मिल जायगा। पर एक बातका ध्यान रखना, उसपर अगाड़ी आपको कलिंगाधिपका सैन्य शिविर मिलेगा।"

घुड०—"सो कुछ हर्ज नहीं। हम लोग वहीं जारहे हैं।"

कन्या—"अहा! तो आपके साथी कोई उच्च सैनिक जान पड़ते हैं।"

घुड़०—"हा, वह राजकुमार हैं।"

कन्या—"कौन? कहाके राजकुमार?"

घुड़०—"क्षमा करना बहिन! पर इसका उत्तर मैं तब दूंगा जब पहले आपकी सखीका परिचय पालूंगा। वे भी कोई उच्च कुलांगना जान पडती हैं।"

कन्या—"आपका अनुमान सत्य है। वे सिंहपथके राजाकी राजदुलारी हैं। जबसे शत्रुओंके अत्याचारसे सिंहपथ छोडकर वे यहा आई हैं, तबसे उन्होंने इस वनको अपनी विहारभूमि बना लिया है और धनुर्विद्यामें तो आप एक हैं।"

घुड़०—"क्षत्री कन्याका यह आदर्श अभिवन्दनीय है। हमारे राजकुमार इनके पिताकी सहायताके लिये आये हैं। वह कलिंगके युवराज ऐल खारवेल है।"

कन्या—"अहोभाग्य हमारे! युवराजके दर्शनोंका सौभाग्य अनायास ही मिला।"

यह सुनकर सब ही कन्याओंने युवराजका अभिवादन किया। युवराज और घुडसवार उनका आभार मानकर अपने रास्ते लगे। रास्तेमें घुडसवारने देखा, युवराजके मुखपर चञ्चलता छारही है। वह रुक २ कर पीछेकी ओर निहार रहे हैं। एकबार साहस करके

उसने भी पीछे घूमकर देखा और देखा—'राजदुलारी भी उनकी ओर टकटकी लगाये खड़ी है।' घुड़सवार बड़बड़ाया—"वनदेवीको प्रसन्न करनेकी भावना की किसने और चितचोर बन बैठा कौन? भाग्य! प्रारब्ध!"

उसका बड़बड़ाना खतम न हुआ कि इतनेमें उसकी गरदन जगमगाते हारसे भर गई। वह चौंक पड़ा। युवराजने कहा—"भाग्य! प्रारब्ध!!"

अँधेरी आधी रात थी। चारोंओर निस्तब्धता छारही थी। सहसा कलिंग शिविरमें एक ओरसे 'मारो, काटो' की आवाजें सुनाई पड़ने लगीं। कलिंग सेनामें खलबली मच गई। ऐल खारवेलने चौंककर पूछा—"यह कोलाहल कैसा है?"

सन्तरी उत्तर देनेको ही था कि हड़बडाये हुये सेनापतिने प्रवेश किया और कहा कि "युवराज! बडा, अन्धेर हुआ। शत्रुने विश्वासघात करके हमारी सेनापर अचानक धावा बोल दिया है।"

युवराज—"अच्छा, यह अधर्म! कुछ परवा नहीं। क्षत्री सदा ही अधर्मका नाश करनेके लिये तैयार है। सेनापति! तुमने सेना तैयार कर ली?"

सेना०—"महाराज! यथाशक्ति सेनाकी समुचित व्यवस्था करके आपको सचेत करनेके लिये चला आया हूं। लेकिन इस अन्धेरी रातमें शत्रु और मित्रको पहचान लेना बडा कठिन होरहा है। कलिंग सैन्य दुर्दान्तदर्पसे शत्रुओंका सामना कर रहा है।"

युवराज—"जिनेन्द्र भगवानका स्मरण करो, भाग्यने चाहा तो विजय अपने हाथ रहेगी।"

सन्तरीने आकर कहा—"सम्राट्का हाथी तैयार है। शत्रुदल बढ़ता आरहा है।"

ऐल खारवेल हाथीके हौदेमें जा विराजे और बड़े कौशलसे युद्ध करने लगे, किन्तु अकस्मात् आई हुई इस आफतके लिये उनका सैन्यदल तैयार नहीं था। इस कारण उसके पैर उखड़ चले। यह देखकर खारवेलने राजा वेणके समान शौर्यको प्रकट किया—वे अकेले ही हाथी बढ़ाते हुये वहां पहुचे जहां घमसान युद्ध हो रहा था। देखते ही देखते शत्रुदलने उन्हें चारो ओरसे घेर लिया। बेचारा हाथी बुरी तरह घायल होकर जमीन पर आ लगा और खारवेल ढाल-तलवार ले भीषण युद्ध करने लगे। अकेले वह हजारों सैनिकोंके वार सहन कर रहे थे, परन्तु उनके रणकौशलको कोई नहीं पाता था।

इस सकटके समयमें छटे हुये नौजवानोंका एक अश्वदल अचानक अरि—कुलमें आ धमका। उसके तीरोंकी विकट मारसे शत्रुओके छक्के छूट चले। शत्रुओंको भागते देखकर कलिङ्ग सेनाके पैर जम गये—वह दुगुने उत्साहसे शत्रुओंका पीछा करने लगी! महा घमसान् युद्ध हुआ और शत्रु अपना बोरिया-बंधना उठा कर सिंहपथसे भाग गया! 'ऐल खारवेलकी जय' से आकाश गूज उठा!

सिंहपथके युद्धमें खारवेल बेढब जख्मी हुये थे—उनकी सेवा—सुश्रूषा सिंहपथके राजमहलमें हो रही थी। अल्प समयमें ही वह अच्छे हो गये और सब लोग विजयोल्लासमें खुशियां मनाने लगे। खारवेलने सबसे पहले उस युवा सैनिकको याद किया;

जिसने उनकी सहायता घोर संग्राममें की थी। उनकी आज्ञानुसार वह युवक उनके सम्मुख उपस्थित हुआ। उसको देखकर खारवेल एक क्षणके लिये उसकी ओर निहारते रह गये, फिर संभल कर बोले—' वत्स, मैं तुम्हारे समयोचित साहाय्यका चिरऋणी हूं। तुम्हारे विक्रम और शौर्यने ही मुझे नवजीवन दिया है।"

युवक—"महाराज, यह युवक किस योग्य है? यह तो श्रीमान्के पुण्यका प्रभाव था कि मैं अपने देश और अपने राजाकी किञ्चित सेवा कर सका हू।"

खार०—"धन्य हो वीर! तुम्हारे समान नर-रत्न ही इस देशकी शोभा है। पर एक बात बताओ, मेरा दिल कहता है कि मैंने तुमको कही देखा है।"

"सभव है, महाराजने मुझे कहीं देखा हो।" कहकर युवकने अपनी आंखें जमीनमें गाड दी, उसका चहरा लज्जासे लाल होगया।

खारवेलको और भी कौतूहल बढा। उन्होंने कहा—"वीर युवक! तुम तो बड़े रहस्य-भरे मालूम होते हो। अच्छा यह बताओ, सिंहपथके राजवंशसे तुम्हारा क्या सम्बध है?"

युवकने बडे साहससे कहा—' सिंहपथका राजवंश! पर मैं तो वनफूल हूं।"

खार०—"युवक! तुम तो पहेलिया रच रहे हो, पर तुम अपने सम्बन्धको छुपा नहीं सक्के! सिंहपथकी राजदुलारीकी मुखाकृतिसे तुम्हारा सादृश्य, किसे दिखाई नहीं पडता? ...

युवक और अधिक बैठा न रह सका, वह युवराजके पैरोंपर

गिर पड़ा और बोला—"नाथ ! क्षमा करो ! मैं ही सिंहपथकी धृष्ट राजदुलारी हूं।"

खारवेलके आश्चर्य और आनन्दका ठिकाना न रहा ! उन्होंने झटपट राजदुलारीको उठाकर छातीसे लगाते हुये कहा—"जिसने मुझे नवजीवन दिया, वही मेरे शेष जीवनका सारथि और संरक्षक होगा।" युवक-भेषधारी राजदुलारी आनन्दातिरेकमें एक शब्द भी न कह सकी ! उसके अद्भुत शौर्यकी प्रशंसा हरकोई करने लगा।

खारवेलका विवाह राजदुलारीसे होगया और अब वह कलिङ्गके राजसिंहासनपर आरूढ होगए।

सिंहपथकी राजदुलारी अब कलिङ्गकी महारानी होगई। वह एक दिन राजमहलमें बैठी हुई थीं कि दिग्विजयसे लौटे हुए सम्राट् खारवेल उधर आ निकले। महारानीने बडे प्रेमसे उनका स्वागत किया और अपने आसनपर ही उन्हें बैठा लिया। पतिदेवको प्रसन्न देखकर वह बोली—"मैं तो समझ रही थी कि सौतन विजय लक्ष्मीके फन्देमें आप ऐसे उलझे है, जो अब शायद ही मुझे आपके दर्शन नसीब हों, पर धन्य मेरा सौभाग्य ! आज मेरे भाग्यके द्वार खुल गये !!"

खारवेलने रानीके कोमल और प्रफुल्ल मुखपर धीरेसे चपत लगाते हुये कहा—"तुम्हें यह न सूझेगा और क्या ? भारतके इस ओरसे उस ओर तककी दिग्विजयमें मुझे कितनी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा होगा, इसकी कुछ बात ही नहीं ? बारहवें महीनेसे तेरहवां महीना न लगा और लो, उलहने शुरू होगये !"

महा०—" अहा ! मैं न समझी थी कि आप इतने सुकुमार होगये हैं। मैंने आपको पानेके लिये धनुष–बाण लेकर कितना परिश्रम किया था ! आज आपने भारत-विजयमें कठिनाइयां सहन कीं तो क्या हुआ ? सम्राट् भी तो आप बन गए।"

खार०—" और तुम सम्राज्ञी मुफ्तमें ही बन गईं ! अच्छा जो कहो सो ठीक। लेकिन यह तो बताओ, कुमारीपर्वतपर जो तुमने जिनमंदिर बनवाना शुरू किया था, उसका क्या हुआ ?"

महा०—"आर्यपुत्रके अनुग्रहसे वह बनकर तैयार है। अब उसमें मात्र श्री जिनेन्द्र भगवानको विराजमान करानेकी देर है।"

खार०—"इसकी चिन्ता न करो, प्रिये ! तुम्हारे पुण्योदयसे मगध विजयमें कलिंगके श्री अग्र-जिनकी मनोज्ञ मूर्ति मिल गई और वह फिर वापिस कलिंगको आरही है।"

महा०—"धन्य हो प्रभो ! सचमुच यह आदिनाथ भगवानकी मूर्ति इस मंदिरकी शोभाको दुगुनी कर देगी। प्राणनाथ ! अब इस कार्यमें विलम्ब न कीजिये।"

"तथास्तु" कहकर सम्राट् खारवेल महाराणीसे विदा हो गये।

कुमारीपर्वत पर अपूर्व महोत्सव हो रहा था। दूर दूरके यात्रीलोग वहां आये थे। मथुराका जैनसंघ पहलेसे ही आया हुआ था। उधर पश्चिम भारतके गिरिनगरसे और दक्षिणके कांचीपुरसे भी जैनसंघ आ गये थे। कुमारीपर्वतके जैनसंघने उनका यथोचित आदर-सत्कार किया। जैनसंघके बड़ेसे बड़े—दिग्गज विद्वान् आचार्य कुमारीपर्वतके महोत्सवमें सम्मिलित हुये थे। शुभ मुहूर्तमें

महारानी द्वारा निर्माण कराये हुये भव्य-जिन मंदिरमें श्री अग्रजिन विराजमान किए गये। सम्राट् ऐल खारवेलने इस हर्षोपलक्षमें चारों प्रकारका दान देकर पुण्य संचय किया। जय जयके निनादसे कुमारीपर्वत गूंज उठा और आचार्योंकी अज्ञानतिमिर-ध्वंसक वाक्प्रभासे मुमुक्षुओंको सन्मार्ग पर आनेका अलौकिक प्रकाश मिल गया। इसी समय आर्य-संघने मिलकर जैन-श्रुतका उद्धार कर लिया। अतमें चतुर्विधि संघका एक वृहद् सम्मेलन हुआ और उसमें सम्राट् खारवेल और उनकी महिषी सिंहपथकी राजदुलारीका आभार स्वीकार किया गया। इसी समय एक ज्ञानी स्थिविरने घोषणा की–"इस कलिकालमें धर्म सूर्यका उदय जिस महापुरुषके निमित्तसे आज हुआ है, उसकी प्रशसा शतमुखसे करना भी न कुछ है। सम्राट् खारवेल चेदि राष्ट्रके शिरोमणि, कौशलेश ऐलेयके कुल दीपक, देखनेमें स्वय भगवान महावीरके समान और विक्रम शौर्यमें राजा वेण तुल्य है, परन्तु आज जिनवाणीका उद्धार कराकर वह इस लोकमें सर्वोपरि अनुपम पुरुष-रत्न हो गये है। और उनके अङ्कमें महाराणी सिंहपथा ऐसी शोभाको पारही है कि जैसी तीर्थङ्कर भगवानकी अधिष्ठात्री शासन-देवीको वह प्राप्त है। इन जीवित रत्न-दीपोका प्रकाश और इस दिव्य महोत्सवका महत्त्व युग२ तक चिरजीवी रहे! आओ, इस भावनाको पत्थरकी शिला पर अङ्कित करा कर अमर बना दो। बोलो भगवान महावीरकी जय"

संघने भी कहा–" भगवान महावीरकी जय।"

× × ×

ईस्वीसन्‌से करीब दो सौ वर्ष पहलेका उकेरा हुआ यह शिलालेख आज भी ओड़ीसाके उदयगिरि-खण्डगिरि (प्राचीन कुमारी) पर्वत पर की हाथी गुफामें मौजूद है और सम्राट् खारवेल एवं उनकी महाराणीका यशोगान करके संघकी भावनाको फलितार्थ कर रहा है। यात्रीगण सम्राट् सम्राज्ञी द्वारा निर्माण कराए हुये जिनमंदिरोंके शिल्प-कार्यको देखकर "धन्य धन्य" कहते हुये हर्ष प्रकट करते है। किन्तु यह नहीं कहा जासक्ता कि उनमेंसे कितनोंको युगवीर खारवेलके आदर्श जीवनसे धर्म और राष्ट्रके प्रति कर्तव्य पालन करनेकी सुध आती है।

(४)

श्री चामुण्डराय ।

गङ्गकुल-दीपक, धर्म-महाराजाधिराज, सत्य-वाक्य, कोङ्गुणिवर्म, धर्मनडि राचमल्लजीका दरबार लगा हुआ था। महाराजाधिराज राज-छत्रयुक्त राजसिंहासन पर बैठे हुये थे। उनके पास ही राजगुरु श्रीमान् सिद्धान्त चक्रवर्ती महोग्र-तपोधन भगवान् नेमिचंद्रजी विराजमान थे। उनसे सटे हुये गङ्गराजके प्रमुख महामात्य 'रणरङ्ग-मल्ल, असहाय-पराक्रम, गुण-रत्न-भूषण, सम्यक्त्व रत्न-निलय' श्री चामुण्डरायजी आसीन थे। उनके चारों ओर अन्य दरबारी लोग बैठे हुये थे। अभी२ धर्मचर्चा होते रुकी थी कि द्वारपालने आकर निवेदन किया— "श्री महाराजकी सेवामें एक व्यापारी उपस्थित है।" राजाज्ञा हुई कि 'उसे आने दिया जाय।' तदनुसार हीरा और मणि मुक्ताओंके अलङ्कारोंसे सटा हुआ एक बड़ा व्यापारी आया और उसने राजाके आगे रत्नोंकी भेट रखकर प्रणाम किया। उसके रत्नोंकी परीक्षा जौहरी लोग करने लगे और राज-परिवारको जो रत्न पसंद आये वह लिये गये। दिगम्बर भेषधारी तपोभृत नेमिचन्द्राचार्यको देखकर उस व्यापारीकी कोई अतीत स्मृति हरी हो आई। वह प्रफुल्लमुख हो बोला—" महाराजाधिराजकी यदि आज्ञा हो, तो सेवक एक अश्रुतपूर्व तीर्थका वर्णन करे।"

राजाने कहा—"वत्स, तुम निडर होकर अपना वृत्तान्त कहो।"

इस आश्वासनको पाकर व्यापारीने कहना प्रारंभ किया—

"अवनिपति ! यहांसे उत्तर पूर्वकी ओर कई देशोंको लांघ जानेके बाद एक बड़ा ही सुन्दर सुरम्य देश है। उसकी राजधानी पोदनपुर किसी समय एक विशाल नगर था। उसके अतीत गौरवके स्मृति-चिह्न अब भी अवशेष हैं। महाराज ! वहांपर सबसे बढ़िया और अनूठो वस्तु पाच सौ धनुष प्रमाण अवगाहनावाली श्रीबाहुबलिजीकी भव्य मूर्ति है। कहते हैं, उसको श्रीभरतराज चक्रवर्तीने निर्माण कराया था। संसार भरके यात्री उसके दर्शनोंको आते थे। किन्तु महाराज ! कालकी महिमा विचित्र है। कुछ वर्षोंसे उस मूर्तिकी देखभाल ठीक तरहसे न हुई और इसका परिणाम यह हुआ कि उसके चहुंओर कुक्कुट सर्पोंने अपना अड्डा जमा लिया है।"

राजा०—"तो क्या अब वहांकी यात्रा बन्द हो गई है ?"

व्या०—"नहीं, महाराजाधिराज ! यात्रीगण दूरसे भगवानकी वंदना करके चले जाते हैं।"

राजा०—"वत्स, तुमने यह अच्छे समाचार सुनाये आज तुम राज्यके पाहुने हो।"

व्या०—'मेरे अहोभाग्य, श्रीमान्‌का मैं कृपापात्र हुआ।"

महामात्य चामुण्डरायजीकी वयोवृद्ध माताने भी उक्त तीर्थके समाचार सुने। वह उत्सुकतापूर्वक गुरुवर्य्य श्रीनेमिचन्द्राचार्यजीके निकट गई और नमस्कार करके उनसे पुछा-"गुरुदेव ! कृपा करके पोदनपुर तीर्थका महात्म्य बताइये !"

आचार्य महाराजने कहा—"भव्य श्राविके ! तेरा प्रश्न अत्यन्त उपयोगी है। सुन, इस कर्मभूमिकी आदिमें प्रथम

तीर्थङ्कर भगवान ऋषभनाथजीके अनेक पुत्र हुये थे। उसमें भरत और बाहुबलि विशेष उल्लेखनीय हैं। भरतने षट्खण्ड पृथ्वीको जीतकर चक्रवर्तीपद प्राप्त किया था और उनके नामकी अपेक्षा ही यह देश भारत वर्ष कहलाता है। बाहुबलिको सुरम्य देशका राज्य मिला था। उसकी राजधानी पोदनपुरमें रहकर वह उसपर राज्य करते थे। जब भरत सम्राट अपनी दिग्विजयसे लौटे, तो उन्हें विदित हुआ कि उनके भाइयोंने उनकी आधीनता स्वीकार नहीं की है। इस पर उन्होंने अपने भाइयोंके पास दूत भेजे। सब भाइयोंने तो उनको अपना राजा स्वीकार कर लिया, किन्तु हे भव्योत्तमा! बाहुबलिजीने उनका आधिपत्य माननेसे इनकार कर दिया। परिणामाधीन दोनों भाइयोंमें युद्ध हुआ और यही युद्ध श्री बाहुबलिके वैराग्यका कारण बन गया! वह समर भूमिसे सीधे अरण्यको चले गये और दिगम्बर मुनिवृत्तिको धारण करके घोर तपस्यामें निरत होगये। हे भक्तिवत्सला! जब वह भगवान बाहुबली मुक्तिधामको पयान कर गये, तब सम्राट भरतने उनकी पवित्र स्मृतिमें पोदनपुरके सन्निकट उनके आकारकी उन्नत और विशाल मूर्ति निर्माण कराई थी। तबहीसे पोदनपुर तीर्थ-रूपमें प्रसिद्ध है और यात्रियोंके लिये पुण्य-सचय करनेका कारण बन रहा है।"

श्री चामुण्डरायकी माता इस वृतान्तको सुनकर बडी प्रसन्न हुई और बोलीं– "भगवानके अनुग्रहसे यह वृत्तान्त जानकर मुझे बड़ा हर्ष हुआ। प्रभो! मैं प्रतिज्ञा करती हूं कि इस तीर्थकी यात्रा करके ही दूध ग्रहण करूंगी!"

आचार्य महाराजने उनके इस निश्चयकी सराहना की और वह भगवानकी वंदना करके चलीं गईं !

श्रवणबेलगोलमें श्री चामुण्डरायके यात्रा संघ ले जानेकी धूम मच गई । सर्वत्र यही चर्चा होने लगी । कोई कहता था कि ' यह अनहोनी कैसे सभव होगई ? चामुण्डराय और यात्रासंघ ! ' उसका पडोसी बोला-' भाई इसमें अचरजकी कौनसीबात होगई ? '

पहला-'लो, इनके लिये कुछ अचरजही नहीं ! जिस व्यक्तिने सारी उम्र लडाइयोमें अपनी तलवार घुमाते रहनेमें बिताई, उसके द्वारा यकायक कोई धर्मकार्य होजाना-मानो कुछ अचरज ही नहीं !'

दूसरा-' अरे जैन धर्मकी शिक्षाका यही प्रभाव है । श्री चामुण्डरायजी पक्के श्रावक '

वह अपनी बात भी पूरी न कर पाया था कि बीचमेंही एक नवागन्तुकने पूछा-'क्या सचमुच चामुण्डरायजी बडे योद्धा है ?'

पहला-' यह खूब कही ! चामुण्डरायजीके विक्रम और शौर्यकी प्रसिद्धि तो चारो दिशाओंमें गूज रही है !'

नवागन्तुक-" भाई, मैं सिंहलद्वीपसे यहां नया ही नया आया हू । मुझे यहाके हाल-चालसे वाकफियत नहीं है। "

दूसरा-' वाकफियत नहीं है, तो सुनो मैं तुम्हें बताता हूं । हमारे राजाके महामत्री और सेनापति ब्रह्म-क्षत्र कुल-केतु श्री चामुण्डरायजी हैं । वही पोदनपुरके लिये यात्रा-संघ निकाल रहे हैं । वे जितने उत्कट रणशूर हैं, उतने ही धर्मात्मा सज्जन हैं ! '

पहला-'हां, यह यात्रा संघ ही उनके धर्मात्मापनेका प्रमाण है !'

दूसरा–' यही क्यों; चामुण्डरायकी आस्तिकता, उनकी दानशीलता, भक्तिवत्सलता पहलेसे ही जगद्विख्यात है। यही कारण है कि जैन संघमें वह 'सम्यक्त्वरत्नाकर' 'शौचाभरण', 'सत्य युधिष्ठिर' और 'कविजन शेखर' नामसे विख्यात हैं।'

पहला–' और लोकमें किन नामोंसे विख्यात हैं ?'

' यह नाम क्या लोकके बाहर है ?' चिढकर कहता हुआ, दूसरा पुरुष नवागन्तुकसे बोला–'भाई, इन्हें धर्मकी बातें अच्छी नहीं लगतीं; यह चामुण्डरायको वीर–शिरोमणि देखनेमें ही मस्त है !'

पहला–' सो क्या वह है नहीं ?'

दूसरा–' है क्यो नहीं, मै खुद कहता हूं कि वह 'सुभट–चूडामणि हैं, वीरोंमें वह अपनी इस उपाधिसे ही परिचित है। उन्होंने कई एक बड़ी२ लडाइयां लडी हैं। खेडगकी लडाईमें विज्जलदेवको हराकर जब वह आये तब उन्हें ' समर–धुरंधर 'के पदसे अलंकृत किया गया और नोलम्ब रण-क्षेत्रकी गोनूरवाली लडाईमें उन्होंने बडी बहादुरी दिखाई। तबसे वह 'वीर-मार्तण्ड' के नामसे प्रसिद्ध हैं।'

पहला–' हां-हां, उच्छङ्गिके किलेकी बात भूले ही जाते हो। ओहो ! उस किलेकी रक्षामें उन्होंने गजबका रणकौशल दिखाया था। इस विजयोपलक्षमें वह 'रण-रङ्ग-सिंह' कहलाये थे !'

दूसरा–'किस्सा कोता भाई, उनके विरुद ही उनकी अनुपम वीरताको प्रकट करनेके लिए पर्याप्त हैं। उपरोक्तके अतिरिक्त ' वैरी-कुल कालदण्ड, ' ' भुज-विक्रम, ' ' समर-परशुराम, ' 'प्रति-

यक्ष राक्षस,' 'भटमारि' इत्यादि नामोंसे भी उनका यशगान हुआ है। किन्तु इस महोत्कृष्ट वीर वृत्तिको रखने हुये भी वह जन्मसे ही धर्मपरायण और भावुक महापुरुष हैं।'

नवागन्तुक—'धन्य है आपका राष्ट्र, जिसके भाग्य-विधाता ऐसे प्रतापी पुरुष हैं! शायद यह बाजोंकी आवाज और जय-जयकारका निनाद यात्रासंघका ही है।'

दूसरा—'हां भाई, यात्रासंघका ही महोत्सव है। चलो, अपन भी देख आयें और आचार्यमहाराजका धर्मोपदेश भी सुन आयें।'

ऊषा प्रकाश-बधूका घूघट अभी अच्छीतरह उघाड़ भी न पाई थी कि श्री चामुण्डरायजीके यात्रासंघमें श्रवणबेलगोलसे अगाड़ी चलनेकी तैयारी होने लगीं। सहसा बड़ी जोरकी आवाज हुई, जिसे सुनकर लोग हक्के-बक्केसे रह गये। किसीकी भी समझमें न आया, यह शब्द किसका है? वज्रपात है अथवा समराङ्गणमें तोपका गोला छूटा है! सब ही चलना भूल गये और लगे इस 'आवाजके निर्णय' के लिये अपनी २ अनुमान शक्तिको पैनी करने! श्री चामुण्डरायजीने अपने डेरेसे निकलकर चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। उन्हें गुरुवर्य श्री नेमिचन्द्राचार्य महाराजके 'शला-सनके पास एक दिव्य प्रकाश दिखाई पड़ा। वह झटपट उधरको बढ़ गये। उन्होंने देखा, आचार्य महाराज ध्यानलीन हैं। और उनकी वंदना एक भव्याकृति और सौम्यप्रकृतिकी देवी कर रही है। चामुण्डरायने भी गुरुमहाराजको नमस्कार किया और वह उनके मौनभंगकी प्रतीक्षा करने लगे। उन्हें अधिक बाट न जोहना

पड़ी। आचार्यमहाराज समाधिसे जागकर बोले-'शासनदेवता! तुम्हारा स्वागत है! जिस धर्मभावसे प्रेरित होकर तुमने यहां आनेका कष्ट उठाया है, उसकी पूर्ति अवश्य होगी।'

देवी इन वचनोंको सुनकर प्रसन्न हुई और आचार्य महाराजको नमस्कार करके अन्तर्हित होगई। चामुण्डरायने भी उनका अभिवादन किया और वह अपने डेरेकी ओर लौट चले।

संघके लोगोंने भी वह प्रकाश देखा-वे भी अपना कौतूहल मिटानेके लिए उस ओर चल पड़े। किन्तु अगाड़ी बढ़नेसे उन्हें मालूम हुआ, यह उनका भ्रम था-प्रकाश, अरुण-सूर्यका प्रकाश था। सब आँखें मलते हुये लौट आये!

चामुण्डरायकी प्रतीक्षामें उनकी माता डेरेके द्वारपर ही खड़ीं थीं। चामुण्डरायने पहुचते ही उनको प्रणाम किया। माताने आशीश देकर कहा-"बेटा! आज सुबह ही सुबह तू कहाँ हो आया?"

चामुण्ड०-"माताजी! मैं श्रीगुरुके चरणोंकी वन्दना करने गया था।"

माता०-"धन्य हो बेटा! पर एक बात तो सुनो, आज मैंने एक बड़ा विचित्र स्वप्न देखा। स्वय शासनवर्द्धक पद्मावती देवीने मुझसे कहा कि 'पोदनपुरकी यात्राकी बात भूल जाओ, स्वयं इस पर्वतकी उन्नत शिखिरपर भगवान बाहुबलिकी एक उन्नत प्रतिमा छुपी हुई है, उसका उद्धार करके धर्मका उद्योत करो।' बेटा! तबसे मैं बड़े असमंजमें पड़ी हूं-यह क्या बात है?"

चामुण्ड०-"माताजी! शासनदेवताका परामर्श आदरके योग्य है। आचार्य महाराज भी इस बातमें सहमत हैं!"

माता०—" यह कैसे ? उन्होंने कैसे जाना ? "

चामुण्ड०—शासनदेवताने अपने आशयको उनपर भी प्रगट कर दिया है।"

माता०—" तो अब क्या यात्रा होगी ही नहीं ? "

चामुण्ड०—" होगी क्यों नहीं ? यात्रा क्या, स्वय एक तीर्थका निर्माण होगा ! तबतक आप सबलोग यहां सानन्द ज्ञान-ध्यानमें निरत रहिये।"

माताने खुशीके आसू बहाये और चामुण्डरायका माथा चूम लिया।

एक दिन श्री चामुण्डरायजीकी माताने देखा, श्री विन्ध्य-गिरिकी पहाडीपर विशालकाय खड्गासन मूर्तिमान् भगवान बाहु-बलि खडे मुस्करा रहे हैं ! उन्हें अपनी आँखोंपर विश्वास न हुआ—वह सोचने लगीं कि "यह कारीगरोंकी बनाई हुई मूर्ति है अथवा स्वयं बाहुबलि महाराज ध्यानलीन हैं ! हो न हो, यह मूर्ति ही है ! कारीगरोंके चातुर्य्यने मुझे भ्रममे डाल दिया है ! चलू, चामुण्डसे सब हाल पूछूं-अरे, वह तो यही आगया ! "

चामुण्ड०—" माताजी प्रणाम। "

माता०—" चिरंजीव रहो बेटा ! तुम्हारी मूर्तिने तो मुझे भ्रममें डाल दिया—बड़ी अच्छी बनी है। "

चामुण्ड०—" हाँ, माँ, कारीगरोंने इसके बनानेमें कमाल कर दिया है। ससारमें यह मूर्ति अनूठी और सबसे ऊँची है। "

माता०—" हाँ, करीब बीस गजकी ऊँचाई है। बेटा,

अब मूर्तिकी प्रतिष्ठा और पूजाका शीघ्र प्रबंध कर लो !"

चामुण्ड०—"माताजी! इसकी आप फिकर न करें। सब प्रबंध हो चुका है और इसी सप्ताहमें भगवान बाहुबलिकी प्रतिष्ठा और साभिषेक पूजन समाप्त हो जायगी।"

माता०—"धन्य हो, बेटा! तुम्हारा यश त्रिलोकव्याप्त हो और धर्मका नाम सदा अमर रहे।"

चामुण्ड०—"माता, यह आपका अनुग्रह और पुण्य-प्रताप है!"

× × ×

तब अर्थात् अबसे करीब एक हजार वर्ष पहले श्री चामुण्ड रायजी द्वारा निर्माण की गई यह विशालकाय मूर्ति आज भी ससारकी आश्चर्यकारी वस्तुओंमेंसे एक है और प्रतिवर्ष देश-विदेशोंके यात्री उसके दर्शन करनेके लिए श्रवणबेलगोलको आते हैं। चामुण्डरायका नाम इस मूर्तिके द्वारा सदाके लिए अमर है! भगवन्! घर घर ऐसे चामुण्डराय होकर धर्म और देशका मस्तक ऊँचा करें।

(९)

चारित्रवीर मारसिंह ।

या त्राका पसीना अभी जिसके मुखपरसे सूखा नहीं था, उस सामन्तने आकर धर्म-महाराजाधिराज, गंगकुल दिवाकर, नृप मारसिंहसे निवेदन किया.—

"अशरण-शरण ! मुझ अभागेको आज बडे बुरे समाचार सुनाने है। क्षमा कीजिये प्रभो ! मैं आपकी प्रसन्नतामें बाधक बन रहा हू।"

मारसिंह-"प्रिय रणशूर ! घबड़ानेकी कोई बात नही है। ससारका रूप ही ऐसा विचित्र है-सुख दु.ख दिनरातकी तरह मनुष्यके पीछे लगे हुये हैं। तुम निडर होकर अपनी बात कहो।"

सामन्त-"महाराजाधिराज ! जिन राठौर राजाओंका नाम सुनकर लोग थर्रा जाते थे-जिनकी उन्नतिका सूर्य कलतक पराकाष्टा शिखरपर चमक रहा था, वही आज न कहीके होगये हैं।"

मारसिंह-" ओफ ! कितने बुरे समाचार हैं " दरबारियोंने दुहराया " महाराज ! सचमुच बडे बुरे समाचार है।" सामन्तने कहा:-"नरेश ! इसमें शक नहीं राष्ट्रकूटोंके सर्वनाशके समाचार महा भयानक हैं। किन्तु अब सम्राट् इन्द्रराज चतुर्थकी आशालता केवल आपके आश्रयपर झुल रही है। प्रभो, उद्धार ! राष्ट्रकूटोंका उद्धार नहीं, धर्मोद्योतका भार श्रीमानके कुशल हाथोंमें है।"

मारसिंह-"तुम निशङ्क रहो, वत्स ! मैं सम्राट् इन्द्रराजके लिये प्राणपणसे तैयार हू। अहा ! उनसा धर्मवीर और उनकी सेवा करनेका अवसर ! मैं अभी उन्हें यहा बुलवाये लेता हूं। परन्तु

सामन्त ! राष्ट्रकूट और सोलंकियोंके संग्रामका हाल तो जरा कहो।

सामन्त—"महाराजाधिराज ! हाल क्या कहूं ? जब भाग्य-चक्र ही राष्ट्रकूटोंके प्रतिकूल था, तब उनका रणकौशल तैलप सोलकीके सामने क्या पेश जाता ? फल यह है कि आज राष्ट्र-कूटोंका 'पालिध्वज' मान्यखेटके किलेपर नही फहरा रहा है। उसपर सोलकियोंका शानदार झण्डा हवासे अठखेलियां कर रहा है और राष्ट्रकूटोंके राजसिंहासनपर तैलप अड्डा जमाये हुये हैं। इन असह्य बातोंको देखकर रक्त उबलने लगता है--किन्तु भाग्य ! प्रारब्ध ! दिनोंका फेर ! आज यह दुधारा बेकार है !"

मारसिंह—"विधिकी मेख—दिनोंके फेरको पलट देना क्षत्रिय-वीरोंके बायें हाथका खेल है। क्षत्रियशिरोमणि तीर्थङ्करों और अन्य महापुरुषोंने इस भाग्यको क्षणमात्रमें चुटकीसे चूर चूर कर दिया। सामन्त ! हम उन्ही महापुरुषोंकी सन्तान हैं। जिसतरह मैंने राष्ट्रकूट महाराजा कृष्ण तृतीयके इशारे मात्रसे सारे उत्तर भारतके राजाओंको नत मस्तक बना दिया, उनके शत्रु अल्लाहका घमड चूर कर दिया, किरातोंको भगा छोडा और मान्यखेटमें राष्ट्रकूट सैन्यकी रक्षा की, उसी तरह आज भी सम्राट् इन्द्रराजको मैं राज सिंहासन पर बैठाकर ही कल लूंगा। तुम निश्चिन्त रहो !"

सामन्त—'राजन् ! आपका कल्याण हो"

राजदरबारियोंने कहा—'धर्म-महाराजाधिराजकी जय हो !'

दिशायें—कह उठीं—'गङ्ग-राष्ट्र जयवंत रहे !'

मान्यखेटके किले पर राष्ट्रकूटोंका 'ओक केतु' फहराता देखकर लोगोंकी जानमें जान आई। दुनियाके मुखसे गङ्गराज धर्म-महाराजाधिराज मारसिंहके रण शौर्य्यका बखान होते छोर न आया था। सोलंकियोकी चार दिनकी चादनीका अन्त हो गया। राष्ट्रकूटोंकी श्रीलक्ष्मीके भाग्य फिर चमक गये। इन्द्रराज चतुर्थको पुन: राजसिंहासन पर बैठनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। राजा और प्रजाने मिलकर आनन्दोत्सव मनाया।

गंगचूड़ामणि नृप मारसिंह भी ससैन्य इस उत्सवमें विद्यमान थे और उनके साथ सेनापति रण रगसिंह चामुण्डराय भी थे। इन्द्रराजने इनका बड़ा आदर किया और बार २ अनुग्रह करनेपर उनको विदा किया। चलते समय इन्द्रराज बोले—" धर्म-महाराजाधिराज ! राष्ट्रकूटवश आपका चिरऋणी है—दयाकर अपना अनुग्रह बनाये रखिये।"

मारसिंहने उत्तर दिया—"सम्राट् ! मैंने मात्र अपना कर्तव्य पालन किया है। तिसपर गगराजवश तो सदा ही सम्यक्त्व-गुण-वर्द्धक राष्ट्रकूटवशकी कीर्तिरक्षाके लिये तत्पर है।"

गङ्गराज मैसूरको चले गये और इन्द्रराज राजमहलको लौट आये। हरिणी जैसी आँखोंवाले एक लजीले पर प्रफुल्ल मुखने उनका स्वागत किया। इन्द्रराजने उस सुन्दर मुखको अपने विशाल वक्षस्थलमें छिपा लिया। उन्होंने सुना—" प्रिय, इस सौभाग्यशाली अवसरपर चलो, जिनेन्द्र भगवानका अर्चन-पूजन करें।" राज-दम्पति जिन-भवनकी ओर चले गये।

पैंकापुरके उद्यानमें श्री अजितसेनाचार्यका संघ विराजमान था। दूर दूरके यात्री उसके दर्शन करनेके लिये आते थे। आचार्य महाराजकी विशाल निस्पृहता, उदार चित्त-वृत्ति और अगाध पाण्डित्यको देखकर वे अपना जीवन सफल हुआ समझते थे। श्री अजितसेनाचार्य शिष्यमण्डल सहित विराज रहे थे कि एक राज-मुकुटसे अलंकृत, कृश शरीर परन्तु सप्रतिभ पुरुषने आकर उनको नमस्कार किया और धर्मलाभ पाकर वह उन्नत स्थानपर बैठ गया। सघजन उत्सुकतासे नवागन्तुकका परिचय पानेके लिये आचार्य महाराजकी ओर निहारने लगे। महाराज बोले—"गङ्गराज! यह क्या हाल है?"

मारसिंह—"नाथ! हाल क्या बताऊ? वृद्धावस्थामें शरीरका हाल क्या अच्छा और क्या बुरा? मुनिनाथके अनुग्रहसे कुछ धर्मलाभ करलू, इस भावसे श्री गुरुकी शरणमें आया हू!"

आ०—"सम्यक्त्वाभरण नरराज! तुम्हारा विचार अत्यन्त सराहनीय है। तुम्हारे जैसे सुभट और धर्मप्रभावक नर रत्नसे मुझे यही आशा थी। क्षत्रीकुलकी तो सदासे यह रीति ही चल आई है कि वह राजक्षेत्रमें अपने पुरुषार्थको प्रकट करके आत्म-कल्याणके मार्गमें उतर पडे।"

दर्शकोंने जाना कि यह गङ्गवशके प्रसिद्ध धर्मप्रभावक और वीर-योद्धा धर्म-महाराजाधिराज मारसिंह हैं और वे बड़े प्रसन्न हुये। गङ्गराजने व्रत नियमोंको दृढ़तासे पालन करना प्रारभ कर दिया और आत्मानुभवके मार्गमें उन्नति करते हुए उनका ज्ञान विशेष प्रदीप्त होगया। अतमें गुरुवर्य्य अजितसेनाचार्यके चरणकमलोंमें

उन्होंने सल्लेखना व्रत लेकर समाधिमरण किया। संघमें वह 'चारित्रवीर' होगये-सब ही उनके आदर्शकी प्रशंसा करने लगे। जैन इतिहासमें उनका नाम सदा-सर्वदाके लिए स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित हो गया।

(६)

जिनधर्म-रत्न गंगराज ।

ठ आधी रात थी। संसारके लोग अपने २ घरोंमें पड़े सो रहे थे। दिनभरके थके-मादे पशु-पक्षी भी सुखकी नीद लेरहे थे। किन्तु ऐसे समयमें भी तीन चार व्यक्ति जाग रहे थे। वे एक विशाल-भवनके एकान्त कमरेमें बैठे हुये थे। उनकी बातोंसे मालूम होता था कि वे कोई गहरी मंत्रणा कर रहे है। उनमेंसे एक उन्नत मस्तक, विशाल वक्षस्थल और पुष्ट भुजाओंवाला था। वह प्रतिभाशाली वीर योद्धा जंच रहा था-उसके साथी उसे आदरकी दृष्टिसे देख रहे थे। वह उनका नेता था। एकने उनसे निवेदन किया—"सेनापति, मैं समझता हू, आपकी स्कीम बिल्कुल ठीक है। हमें अब अन्य किसीसे परामर्श करनेमें समयको नष्ट न करना चाहिये।"

दूसरेने कहा—"बात तो यही ठीक है कि अब तनिक भी विलम्ब किये बिना ही शत्रुके ऊपर दोनों ओरसे धावा बोल देना चाहिये।"

तीसरेने कहा—"शत्रुकी सतर्कताको देखते हुये, उसपर धावा करनेमें देरी करना, सचमुच अपने आप अपने पैरों कुल्हाड़ी मारना है।"

चौथे वृद्ध महाशय उनसे सहमत न थे। उन्होंने कहा—"यह सब बात ठीक है, किन्तु जब महाराज विष्णुवर्द्धनने स्वयं आनेके समाचार भेजे हैं, तो उनकी प्रतीक्षा कर लेना बुरा नहीं

है । तबतक अपनी स्कीमके अनुसार हमें सेनाको ठीक ठिकाने लगा रखना चाहिये ।"

सेनापतिने यह सब बातें बडे ध्यानसे सुनीं, उन्हें आक्रमणमें विलम्ब करना ठीक न जंचा। वह बोले—'वीर सामन्तगण ! बेशक महाराज विष्णुवर्द्धनका आगमन हमारे लिए सोनेमें सुगंधिका काम देगा, किन्तु उनके लिये प्रतीक्षा करना शत्रुबलको जान बूझकर बढ़ाना है । हमें महाराजका इतना डर नहीं, जितना शत्रुको बेरोक अपने देशमें घुसते चले आने देनेका है ।

सेनापतिकी बातको काटकर बीचमें ही तीनों सामन्तोंने कहा—" सामन्ताधिपति ! आपका निश्चय बिल्कुल ठीक है-विलम्ब न करके आप हमें शत्रुपर आक्रमण करनेकी आज्ञा दीजिये ।"

सेनापतिने चौथे सामन्तकी ओर देखा—वह खामोश रहे-उन्होंने समझा हमारे निश्चयसे वह भी सहमत है । बस, शत्रुको दोनो ओरसे घेरकर आक्रमण करनेका निर्देश सेनापति करनेको तत्पर हुए कि इतनेमें कमरेका एक दर्वाजा खुला ! सबकी आंखें उस ओर उठ गई। सबने देखा, एक रमणी-रत्न द्वार पर खडा चमक रहा है। सेनापतिने कहा—'लक्ष्मी ! तुम इस समय कहा ?' शेष सबने उनका अभिवादन किया । सुन्दरीने भीतर घुसते हुए उत्तर दिया—'क्षमा करें प्राणनाथ ! मैं आपकी चिन्तासे व्यथित हुई मुखाकृतिसे ही, इस गहन मन्त्रणाकी बातको समझ गई थी-मुझे भी नींद न आई-मैं आपका निश्चय सुन चुकी हूं । इसीलिए एक निवेदन करनेके लिए आई हू ।'

सेनापति—'कहो प्रिये ! क्या निवेदन है ?"

लक्ष्मी–" निवेदन है, नाथ ! वह कहती हू. परतु उससे यह न समझिये कि महाराज विष्णुवर्द्धनके महाप्रचड दंडनायक और सेनापतिकी सहधर्मिणी भीरु और ईर्षालु है। नहीं आर्यपुत्र ! मुझे अपने देशकी रक्षाका पूरा ध्यान है; किन्तु आप जिस उपायको काममें लेने जारहे हैं, उसे मैं देशरक्षाका घातक-जैनधर्मरत देशवासियोंके लिए भयानक समझती हू !"

सेनापति–" वह क्यों ?"

लक्ष्मी–" वह क्यों ? जिनधर्म-रत्न हैं आप और फिर भी पूछते हैं क्यों ? विष्णुवर्द्धन अब पहलेके सम्यक्त्व-रत्न विष्णुवर्द्धन नहीं हैं ! शैव गुरुओंके तांत्रिक टोनेमें वह एकटक बहे जारहे हैं ! फिर भला कहिये इस जैनधर्मप्रधान देशमें ऐसे राजाके शासनको दृढ़ बनाना कहांकी बुद्धिमत्ता है ?"

सेनापति–" मैं समझगया तुम्हारी मनोवृत्तिको प्रिये ! तुम इसका जरा भी भय मत करो। जबतक विष्णुवर्द्धनका सेनापति मैं-गङ्गराज हू, तबतक एक नहीं हजार तंत्रवादी आयें, मेरे साधर्मी भाइयोंका बाल बाका नहीं कर सके ! महाराज विष्णुवर्द्धन मेरे विक्रम और शौर्यके कायल हैं। प्रिये ! निश्चिन्त रहो, जिनधर्मकी प्रभावनाका सूर्य गङ्गराजके रहते २ इस देशमें कभी अस्त नहीं होसक्ता ! "

लक्ष्मी–" यदि यह बात है प्रिय ! और आपको यह विश्वास है, तो मुझे कुछ नहीं कहना। शासनदेवता आपका कल्याण करें।"

सामन्तोंने 'तथास्तु' कहकर ' जिनधर्म-रत्न ' का जयघोष किया। कमरेके कोने २ से भी 'जिनधर्म-रत्न' का जयकार हुआ।

बाहर हवामें भी उसकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ी 'जिनधर्मरत्नकी जय!'

तालकडके रणक्षेत्रमें सेनापति गङ्गराजकी शानदार विजय हुई। शत्रुदल उनकी अल्प सेनासे कहीं बढ़ा चढ़ा था और उसको देखते हुये किसीको आशा न थी कि सेनापतिके हाथ खेत रहेगा। सच बात तो यह थी कि शत्रुको जिस बातका स्वप्नमें गुमान नहीं था और जिसकी ओरसे वह बेखबर था वह अनहोनी बात होगई। सेनापतिके सामन्तोंने शत्रुदलके पीछेसे भी आक्रमण कर दिया! समराङ्गणके इस कौशलको देखकर शत्रु सैन्य कुछ भी न समझ सका। आगे और पीछे दोनों ओरकी मारसे उसके छक्के छूट गये। वह भाग खड़ा हुआ! गङ्गराजने होयसाल राजवंशका राष्ट्रीय झंडा ऊंचे आकाशमें फहरा दिया।

सारी सेना विजयोल्लासमें फूली हुई राजधानीकी ओर लौट चली। हाँ उसका वह आवश्यक भाग जो समर-सीमापर डटा रह गया, उसके भाग्यपर खीजने लगा। उसे सम्राट् द्वारा स्वागत न पानेका मलाल था, परन्तु विजयी वीरकी तरह जब वह भागते हुए शत्रुका स्मरण करता तो छाती तानकर मोर्चेपर टहलने लगता।

सेनापति गङ्गराजकी अध्यक्षतामें होयसाल सेना बढ़ने लगी। किन्तु यह क्या? उसके सम्मुख यह किसकी सेना बढ़ आई? क्या शत्रुने उनको चकमा देकर आ घेरा? सेना रोक दी गई! सैनिक अपने अस्त्रको संभालने लगे। उधर सेनापतिकी आज्ञासे दो गुप्तचर अगाडी बढ़ गये।

बातकी बातमें गुप्तचर लौट आये। उन्होंने कहा—'अरि-सैन्य

नहीं; स्वय महाराज विष्णुवर्द्धन दलबल सहित चले आरहे हैं।' यह शुभ समाचार सारी सेनामें विद्युत्वेगकी तरह फैल गये। सेनाने हर्षोन्मादमें 'महाराज विष्णुवर्द्धनकी जय!'–'महा-सामन्ताधिपति गङ्गराजकी जय' से आकाश गुंजा दिया।

देखते ही देखते दोनों सेनाओंका मिलाप होगया–योद्धागण एक दूसरेसे गले मिले! राजा विष्णुवर्द्धनने सेनापति गङ्गराजको छातीसे लगाकर इस अपूर्व विजयपर उन्हें बधाई दी। महाराजने विजयोपलक्षमें 'गोविन्दवाडी' नामक ग्राम भी उनको भेंट कर दिया। राजाज्ञाके अनुसार अन्य योद्धाओंका भी समुचित आदर-सत्कार हुआ! चारों ओर आनन्द ही आनन्द छागया।

लक्ष्मीदेवी पुष्पमाल लिये द्वारपर खडीं थीं। उन्हें वहाँ खडे २ बहुत देर होगई, परन्तु गङ्गराज तो भी न आये। पति-परायण देवीका हृदय छटपटाने लगा! वह जरा आहट पाता कि सिंहद्वारकी ओर नेत्रोंको दौडा देता! पर गङ्गराजको न पाकर तिल मिलाने लगता! किन्तु तपस्याका फल मीठा होता है–सतोष अपना फल लाता है–समय पाकर तरुवर फलते हैं! लक्ष्मीदेवीका अधीर मन सतोषपूर्वक अपने प्रियतमके शुभागमनकी बाट जोहता रहा,–वह निराश भला क्यों होता? गङ्गराज आये। लक्ष्मीदेवीने प्रफुल्ल होकर उनके गलेमें फूलोंका हार डाल दिया। प्रेमी पतिने अपनी प्यारीके धड़कते हुये दिलको अपने विजयी वक्षस्थलमें छुपा लिया। चकवी चहक उठी–कुमुदनी खिल गई! क्षणभरके लिये माधुरी बिखर गई।

लक्ष्मीने कहा—'आर्यपुत्र, हार्दिक बधाई देनेसे मैं रुक नहीं सकी; पर अभी आपकी विजय अधूरी है। इसीलिये अभी नहीं कहती ' हार्दिक बधाई।'

गङ्गराज—' खूब, मेरी विजय अधूरी ! कौन कहता है ?'

लक्ष्मी—' कहेगा कौन ? मैं कहती हू।'

गगराज—' ओहो, आपका बड़ा साहस ! अच्छा सुनाओ, भला क्यों ?'

लक्ष्मी—' जिनधर्म-रत्न ! आप पूछते हैं क्यों ? जबतक विष्णुवर्द्धन महाराजके दिलको एकबार फिर आप जैनधर्मकी ओर आकृष्ट न कर दें, तबतक आपकी जीत अधूरी नहीं तो क्या पूरी है ? '

गंगराज—' अच्छा, यह बात है ! तो कल ही लो ! जिन-मंदिरमें विजयको मूर्तिमान् खड़ी देखना ! वहां आनन्द ही आनन्द बरसेगा। '

पतिके मुखसे यह सुनकर लक्ष्मीने कहा—' तो मेरी बधाई भी आपको मिल जायगी और गुरुदेवका आशीर्वाद भी दिलवा दूगी।'

गंगराज हस पड़े और बोले—' तुम हार गई लक्ष्मी ! यह दोनों चीजें मुझे कभीकी मिल चुकी हैं। पूछो दिलसे !'

लक्ष्मीदेवीने हंस दिया-गगराज भी हंसने लगे !

जिनमंदिरमें बड़ा आनन्दोत्सव होरहा था। श्रावक–श्राविकायें जिनेन्द्र भगवानका पूजन-भजन करनेमें व्यस्त थे। मण्डपमें गुरुवर्य श्री शुभचन्द्राचार्यजी विराजमान थे। राज्यके सामन्तगण

और प्रसिद्ध पुरुष उपस्थित थे। गङ्गराज भी आचार्यमहाराजके सन्निकट बैठे हुये थे। बाजे बजने लगे। लोगोंकी आंखें दरवाजेकी ओर दौड़ गईं। गंगराज उठे और उनके साथ अन्य सामन्त भी उठे। आचार्यमहाराजका अभिवादन करके वे द्वारकी ओर बढ़ गये। उन्होंने देखा महाराज विष्णुवर्द्धन हाथीपरसे उतर पड़े हैं। गंगराजने उनका स्वागत किया और सबके साथ वह जिनमंदिरमें आगये। देव और गुरु महाराजकी उन्होंने वन्दना की। आचार्य महाराजने उन्हें धर्मवृद्धि दी और कहा—'राजन्! इस भववनमें भटकते हुये प्राणीके लिए मनुष्य जन्मको पालेना अति कठिन है। तिसपर मनुष्य होकर सुबुद्धि और विवेकको अपना लेना और भी कठिन है।' इसलिये इस मनुष्य जन्मको धर्मकार्यों द्वारा सफल बनाना, प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य है। क्रोध, मान, माया, लोभ मनुष्यको बुरी तरह सताते है—इन वैरियोंको जीतना सच्ची विजय है। और इस विजयको दिगन्तव्यापी बनानेके लिये सम्यक्ज्ञानका प्रचार करना श्रेष्ठ है। इस सुअवसरको आप भव्यात्मायें अपने स्थाई धर्मकार्यों द्वारा चिर स्मरणीय बना देंगे, इसके कहनेकी मुझे जरूरत नहीं है। मेरा आशीर्वाद आपके साथ है!"

गंगराजने खड़े होकर विनयपूर्वक कहा—'श्रीगुरुकी उपदेश-गिरासे हमारा बड़ा लाभ हुआ है। भगवान्‌के इस महती उपकारको हम नहीं भूल सक्ते। दीनबन्धु! व्रतोंका पालन यह सेवक पहलेसे ही करता है। उनमें मेरी दृढ़ता और आस्था अधिक वृद्धि करे यह आशीष दीजिये। और आज्ञा कीजिये कि मैं गोविन्दवाडी नामक ग्रामको सम्यक्ज्ञान प्रचारके लिये उत्सर्ग करदूं। आपके

[illegible] महाराजसे भी इस बातकी पुष्टि मिलनेकी मुझे आशा है।'

श्रीगुरुने कहा—'तथास्तु।' राजाने सेनापतिकी सराहना करते हुये कहा—"धन्य हो वीर! तुम्हारी निस्पृहता प्रशंसनीय है। राज्यकी ओरसे भी इस ज्ञानदानके लिये अवश्य ही समुचित प्रबन्ध होगा।"

लोगोंने घोषणा की—"जैनधर्मकी जय"—"विष्णुवर्द्धनकी जय"—"गंगराजकी जय!"

आचार्य महाराजकी वंदना करके राजा और प्रजा लौट चले। मार्गमें लक्ष्मीदेवीने अपने पतिदेवसे कहा—"नाथ! अब तुम्हारी पूरी विजय हुई!" गंगराज मुस्करा दिये! लक्ष्मीदेवीने माधुरी बरसादी!



(७)

सम्यक्त्वचूडामणि हुल्ल।

मनोहर वनके एकान्त कुञ्जोंमें 'जैनाश्रम' स्थित था। बड़े२ आचार्य और उपाध्याय वहांपर अध्ययन अध्यापन और ध्यान—ज्ञानमें निरत रहते थे। दक्षिणभारतकी भावी संतान अधिकांश यहींपर 'शिक्षित-दीक्षित' होती थी। आश्रमवासी ब्रह्मचारीगण यहांसे सर्व विद्याओं और कलाओंमें निपुण होकर अपने२ घरोंको जाते थे। उस दिन इस आश्रममें एक बड़ा उत्सव होरहा था, भोले भाले ब्रह्मचारीगण प्रफुल्लचित्त हो खेल खेल रहे थे। उनमेंसे एक टोली कूद२ कर गारही थी:—

"स्थिर-जिनशासनोद्धरणरादियोळारेने राचमल्ल-भु-
वर वर-मंत्रि रायने बळिक्के बुध-स्तुतनप्प विष्णु-भु-
वर-वर-मंत्रि-गङ्गणने मत्ते बळिक्क नृसिंह-देव-भु
वर-वर मंत्रि-हुल्लने पेरंगिनितुळ्ळडे पेळलागदे!"

अन्य ब्रह्मचारीगण बड़े कौतूहलसे उनके इस गानको सुन रहे थे। यह टोली जरा दम लेनेको रुकी कि एक ब्रह्मचारीने पूछा—'भाई यह गीत गाते तो हो, पर यह तो बताओ इसका मतलब क्या है? किन लोगोंका यशगान है इसमें?'

दूसरा ब्र० बोला—'यह रहे बिल्कुल बुद्धू ही — उस दिन गुरु महाराजने इसका अर्थ समझाया भी था, तब भी आप कुछ न समझे!'

पहला ब्र०—'क्षमा कीजिए! मेरे सामने तो इसका अर्थ कभी नहीं हुआ।'

तीसरा ब्र०—हां, हां, भाई ! तुम ठीक कहते हो। उस रोज गुरु बीमार थे।

पहला०—हां, यह बात मानी! पर अब मुझे वह अर्थ बताओ।

तीसरा०—अच्छा सुनो, इस पद्यका अर्थ गुरुजीने यह बतलाया था कि "यदि पूछा जाय कि जैनधर्मके सच्चे पोषक कौन हुये तो इसका उत्तर यही है कि प्रारंभमें रायमल्ल नरेशके मंत्री राय (चामुण्डराय) हुए, उनके पश्चात् विष्णुनरेशके मंत्री गंगण (गंगराज) हुए और अब नरसिंहदेवके मंत्री हुल्ल हैं।"

पहला०—ठीक, अब मैं समझ गया। धन्यवाद !

दूसरा०—क्यों भाई ! यह नरसिंहदेव ही तो गंगवाड़ीके राजा हैं?

तीसरा०—हां, यही नरशूर गंगवाड़ीके प्रजावत्सल नरेश हैं!

पहला०—सुनते हैं, इन महाराजने एक बड़ी लडाई फतह की है।

तीसरा०—हां, हां उसी विजयके हर्षोपलक्षमें आज मंगलोत्सव मनाया जारहा है।

दूसरा०—क्यों भाई, यह लोग कभी यहां भी आयेंगे ?

पहला०—सुनते तो हैं राजा नरसिंहदेव और सेनापति हुल्ल यहां भी आयेंगे।

तीसरा०—सम्यक्त्वचूडामणि हुल्लसे तो अपन खूब परिचित हैं।

दूसरा०—वे बड़े अच्छे हैं—राजनीतिमें बृहस्पति भी उनकी बराबरी नहीं कर सक्ता !

यह बातें हो ही रहीं थीं कि एक ओरसे इन ब्रह्मचारियोंने सुना—"मध्याह्नके सामायिककी वेला होगई है" वे एकान्त कुंजोंमें जाकर ध्यानलीन होगये।

सम्यक्त्वचूड़ामणि हुल्लकी पत्नीने कहा—'प्राणनाथ! श्रवणबेलगोलकी यात्राका सुअवसर बहुत दिनोंसे प्राप्त नहीं हुआ है। यदि आपको अवकाश हो, आपका अरिमंडल शान्त और राजव्यवस्था सुचारु हो, तो चलो जिननाथकी यात्रा कर आवें।'

हुल्लने उत्तर दिया—'प्रिये! तुम्हारा यह विचार सराहनीय है। सुना है कि राजा साहब भी यात्रा करनेकी तैयारीमें हैं।'

पत्नी—'अहा! यह तो बड़ी अच्छी बात है। मैंने सुना था कि महाराजने अपनी विजयोपलक्षमें श्रवणबेलगोलके निमित्त कुछ भूमिदान किया है।'

हुल्ल—'हां, यह ठीक है और महाराज उसकी समुचित व्यवस्था करनेकी नियतसे ही गोम्मटेश्वरकी वन्दनाके लिये जायगे।'

पत्नी—'यह आपने अच्छे समाचार सुनाये। अब मेरी अभिलाषाके पूरी होनीमें देरी न लगेगी। अहोभाग्य!'

सम्यक्त्वचूडामणि हुल्ल अपनी सहधर्मिणीके धर्मप्रेमको देखकर मन ही मन सराहना करते हुये निद्रादेवीके शान्त उपवनमें विचरण करने लगे।

हाथीपर राजकुलका झंडा फहराता और धौंसा बजता जारहा था। लोगोंने समझा श्री नरसिंहदेव और उनके सेनापति हुल्ल फिर किसी शत्रुका मद-चूर करनेके लिए बढ़े चले जारहे हैं। किंतु जब उन्होंने देखा कि हुल्लके साथ न केवल रनवास ही है, बल्कि अन्य नगर श्रेष्ठिगण और श्रावक श्राविकायें भी हैं तो उन्हें अपनी गल्ती सूझ पड़ी। वे जान गये, राजासाहब जैनतीर्थकी वंदनाके लिये जारहे हैं। इस खबरके फैलते ही गावका गांव राजसंघको देखनेको उमड़ पड़ा।

विन्ध्यगिरिके निकट पहुंचनेपर राजा और उनके सामंतगण हाथी और घोड़ोंपरसे उतर पड़े। उन्होंने वहींसे श्री गोमटेश्वरको मस्तक नवाया। प्रातःकालकी मनोरम वेलामें उन्होंने जैनतीर्थकी वन्दना करली और वे सब श्री आचार्य नयकीर्ति सिद्धांतदेवका आशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये उनके मठमें पहुंचे। आचार्यने सबको धर्मवृद्धि दी। राजा नरसिंहदेवने अपनी रण विजयका हाल उन्हें सुनाया और निवेदन किया—"गुरु महाराज! धर्मके प्रतापसे ही मुझे इष्टका लाभ हुआ है। एतदर्थ मैंने सावणेरु नामक ग्रामको जैन तीर्थके निमित्त अर्पण करनेका निश्चय कर लिया था। उस निश्चयको अब मैं कार्यरूपमें परिणत कर रहा हू। नाथ! यह तुच्छ भेट स्वीकार कीजिये और इसका जैनतीर्थके लिए समुचित उपयोग कीजिये।"

गुरु महाराज—"राजन्! तुम्हारा कल्याण हो। जिननाथकी पूजा, अर्चा, वृद्धिकी भावना सदा शुभ फलका सचय कराती है। तुम्हारा यह दान तुम्हारी कीर्तिको जगद्व्यापी बना देगा।'

राजा—"यह दास तो श्री गुरुके अनुग्रहको ही सब कुछ समझता है।"

इधर यह बातें होरहीं थीं, उधर हुल्लकी धर्मात्मा पत्नी उसकी ओर अर्थभरे नेत्रोंसे देख रही थी। हुल्लको अपनी पत्नीका मतलब समझनेमें देर न लगी। वह मुस्कराये और मुस्कराहटने उनकी पत्नीके नेत्रोंमें कृतज्ञताकी ज्योति जगा दी। हुल्ल उठ खड़े हुये। उन्होंने विनयपूर्वक निवेदन किया—"श्री गुरुके प्रसादसे मेरा जीवन आज कृतार्थ होगया। मेरे हर्षका आज ठिकाना नहीं है। स्वामीकी यशवृद्धिसे सेवकको हर्ष होता ही है और वह उसका अनु-

करण करना अहोभाग्य समझता है। प्रजावत्सल, धर्म—धुरन्धर नरसिंहदेवजूकी कीर्ति-गरिमाका बखान करना मेरे लिये कठिन है मैं अपने इस कृतज्ञ हर्ष भावको चिरस्थायी बनानेके लिये प्रतिज्ञा करता हूं कि यहांपर दो भव्य जिनमंदिर निर्माण कराऊंगा और दो छात्र आश्रमोंको स्थापित कराके उनकी सुचारु व्यवस्था करा दूंगा।"

श्री गुरुने सम्यक्त्वचूड़ामणि हुल्लके इस निश्चयकी बड़ी सराहना की, राजाने उनका आभार माना और लोगोंने उनका जयकारा किया।

हुल्लने प्रियाकी ओर देखा वह प्रसन्न थी, वह भी मुस्करा दिये। यात्री लोग गाने लगेः—

"स्थिर-जिन-शासनोद्धरण रादियोलारेने राचमल्ल-भू।
वर-वर-मंत्रि-रायने बळिकें बुध-स्तुतनप्प विष्णु-भू॥
वर-वर-मंत्रि-गङ्गणने मत्ते बळिकें नृसिंहदेव-भू।
वर-वर-मंत्रि-हुल्लने पेरङ्गिनि तुल्ळें पेळ लाग दे॥"

(८)

वीरांगना सावियब्बे ।

साबियब्बेके मुंह चम्पा लगी हुई थी । न जाने चम्पा दक्षिण-भारतके इस सामन्त घरानेमें कैसे पहुच गई थी । किन्तु इसमें शक नहीं, वह सावियब्बे पर अखण्ड प्रेम रखती थी । सावियब्बे हंसती, तो वह भी फूल बरसा देती । सावियब्बे जिनमंदिरमें पूजा करने जाती, वह भी उसके साथ हो लेती । सावियब्बेको अनमनी देखती, तो तो वह भी उदास होजाती । साराश यह कि चम्पा सावियब्बेको अपना 'सर्वस्व' समझती थी। उसके सुखमें वह अपना सुख और उसके दुःखमें वह अपना दु.ख समझती थी ।

सावियब्बे भी चम्पापर स्नेह-दृष्टि रखती थी । वह उसे बड़ी प्यारी थी। पर न जाने क्या हुआ, सावियब्बे चम्पापर गुस्सा करने लगी । उसने कहा–" क्या बकती थी छोकरी ? यह तो डरपोंक स्त्रियॉ ही बकतीं हैं, मेरे महलमें यह न होनेका, चली गानेको 'सनन सखारे जांयगे ' कायर ' डरपोक !! "

चम्पा हसती रही ! फिर बोली–'मेरी रानी ! नाराज क्यों होगई ? मैं और मेरे देशकी वीरागनायें भी किसीसे कम नहीं हैं।'

सावियब्बे–'होंगी, पर तू तो बुजदिलीकी बातें कर रहीं थी।'

चम्पा–'बुजदिलीकी न करती तो क्या अपने इठलाते फूलको रणागणमें कुचलवानेकी बात कहती ?'

सावियब्बे–'चल छोकरी, मेरे सामनेसे हट ! आज तुझे हो क्या गया है ?'

चम्पा–'रानी ! मुझे कुछ नहीं हुआ है। आप अपनेको देखें शत्रुदलके उमड़ते हुये बादलों और उसके मारु-गर्जनाने आपको आपे हीमें नहीं रक्खा है। '

सावि०–अरी, नहीं जानती ! एक वीरांगनाके लिए यह कौनसी अनोखी बात है ?'

चम्पा–'तो मेरे देखनेमें ही कौनसी अनोखी बात है कि आप कितने पानीमें हैं।'

सावियब्बेने हंस दिया, एक विचारकी विद्युत लहर क्षणभरके लिए उसके मुखपर दौड़ गई। दूसरे क्षण उसने कहा–"चम्पा ! देख हम लोग मंदिरजीमें जायगे। पूजनकी सामग्री ठीक रखना।"

चम्पाने कहा–'बहुत अच्छा, मेरी रानी।'

सावियब्बे पराक्रमी और प्रसिद्ध बायिक और उनकी पत्नी जावय्येकी वीर पुत्री थी। जितनी ही वह वीर थी, उतनी ही वह धर्मात्मा थी। उसके समयके लोग कहते है कि वह रेवती, देवकी, सीता, अरुन्धती आदि सदृश रूपवती, पतिव्रता और धर्मप्रिया थी। जिनेन्द्र भगवानमें उसकी शासन देवताके सदृश भक्ति थी। उसका विवाह लोकविद्याधर नामक एक पराक्रमी सामंतसे हुआ था। युगल दम्पति सानन्द कालक्षेप करते थे कि अकस्मात् शत्रुदलने उनके देशपर आक्रमण कर दिया। सबको विश्वास होगया कि अब शत्रुके भयानक और सागरकी तरह उमडते हुए सैन्यकटकसे सुरक्षित रहना अशक्य है ! बस, यही निश्चय हुआ कि शत्रुके नगरतक पहुंचनेके पहले ही आक्रमण कर देना चाहिये। सावियब्बेने जब

वह सुना, तब उसने भी पतिके साथ रणांगणमें चलनेका आग्रह किया। वह बोली—'नाथ ! ऐसे उद्दण्ड शत्रुके अति निकट होते हुये, मैं आपको समर-भूमिमें भेजकर अकेली कैसे रह सक्ती हूं ? जहां आप होंगे, वहां मैं होऊंगी ! मुझे ले चलिये।'

लोक विद्याधर चुपचाप खड़े रहे। सावियब्बेने पतिके असमंजसभावको ताड़ लिया। वह बढी और विद्याधरके गलेमें बाहें डालकर बोली—"प्राणनाथ ! किस बातका संकोच करते हैं ? जहां आप मेरे साथ होंगे, वहा भय किस बातका ? बस, मुझे आप आज्ञा दें।" विद्याधर पत्नीके इस आग्रहको टाल न सका, वह उसके साहस और पराक्रमसे परिचित था और परिचित था नगरपर आनेवाले संकटसे, इसलिये उसने सावियब्बेको साथ चलनेकी अनुमति दे दी। सावियब्बेका मुखकमल खिल गया। विद्याधरने उसकी सौरभ बटोरते हुये कहा—'अच्छा प्यारी ! तो चलो समरभूमिको प्रस्थान करनेके पहले जिनेन्द्र भगवानकी पूजा कर आवें।' सावियब्बेने उत्तर दिया—'अवश्य ही ! मैंने सामग्री वगैरहका सब प्रबन्ध करा लिया है।' पतिपत्नी जिनमंदिरकी ओर चले गये।

बागियुरमें बड़ा घमसान युद्ध हुआ। सामन्त लोक विद्याधर और उसके वीर योद्धाओंने जानपर खेल कर वह कौशल दिखाया कि शत्रु भी दांतों तले उँगली दबा गया। तिसपर वीरांगना सावियब्बेका स्त्री सैन्य अद्भुत शौर्य और विक्रम दिखा रहा था। किन्तु टिड्डीदलकी तरह उमड़ते हुये शत्रुओंके कटकसे वे मुठीभर सैनिक कबतक भिड़े रहते ! आखिर एक२ करके वह वीर

योद्धा गिरने लगे। जो बच गये वह प्राणोंकी बाजी लगाकर शत्रुके दांत खट्टे करने लगे। सावियब्बेने अपना घोड़ा शत्रुके हाथीकी ओर बढ़ाया और वह शत्रुसैन्यको चीरती हुई उसके सामने जा डटी ! विद्याधरने सावियब्बेके अति साहसको देखा, उसने भी अपने घोड़ेको उसी ओर बढ़ाया। किन्तु अभी वह उस तक पहुंचा न था कि शत्रुका पैना भाला, उस कोमलांगीके ऊपर आ गिरा ! उसने एकवार बचाया, दूसरा बचाया—परन्तु उसका वश न चला। उसका घोड़ा आहत होगया और उसपर भी घातक वार आ गिरा। एक चीख उसके मुँहसे निकल गई और वह जननी जन्मभूमिकी गोदमें आ गिरी ! विद्याधरने चण्डतासे हाथीपर आक्रमण किया। हौदेके रस्से कट गये और शत्रु नीचे आरहा। विद्याधरने शत्रुको वेढब घायल कर दिया। यदि अन्य सैनिक उसे चारोंओरसे न घेर लेते तो वह उसके प्राण लिये विना न मानता। किन्तु अब, अब क्या ? वह भी सावियब्बेके पास मातृभूमिकी गोदमें जा लेटा। शत्रुकी सेनामें हर्षनाद हुआ—पर वह स्वयं हर्षित न था। देशवासियोंने इन वीर वीरांगनाकी वीर स्मृतिमें एक वीरगल् निर्माण करा दिया, जो आज भी इनके पराक्रमका बखान कर रहा है। धन्य है वीराङ्गना सावियब्बे !

(९)

सती रानी ।

गजनीके बादशाह महमूदने हिन्दुस्तानपर धावा बोल दिया था। उसके अत्याचारोंसे देशमें त्राहि त्राहि मच गई थी। भाग्य उसके साथ था—किसीका कुछ वश न चलता था। देखते ही देखते महमूद गजनवीने पंजाबको जीत लिया और वह गंगा—यमुनाके मनोहर देशमें आ धमका।

उस समय प्राचीन श्रावस्ती नगरी चन्द्रिकापुरीके नामसे प्रसिद्ध थी। जैनियोंका उससे गहरा सम्पर्क था और ११वीं शताब्दि तक उनके उत्कर्षमें श्रावस्ती भी फलती—फूलती रही। किन्तु सबके दिन सदा एकसे नहीं रहते! श्रावस्तीके भाग्यको भी ग्रहण लग गया। महमूद गजनवीके सेनापति सलार मसऊदने श्रावस्ती-पर भी आक्रमण कर दिया।

श्रावस्तीके जैनधर्मानुयायी राजपूत राजा सुहृदध्वजने अगाड़ी बढ़कर हाथिली ग्राममें उससे मोर्चा लिया। एक ओर राजपूतसेना 'जय महावीरकी जय'का निनाद करती हुई यवनोंपर भूखे बाघकी तरह टूट रही थी, दूसरी ओर थके मांदे यवन सैनिक जानपर खेल-कर लड कट रहे थे। 'अल्ला हो अकबर' के नारोंसे आकाश गूँज गया, बडा घोर युद्ध हुआ। दिनभर किसीने मिनटभरके लिये भी दम न लिया। संग्रामभूमि योद्धाओंके रक्तसे सनी हुई, ऐसी मालूम देने लगी कि मानों उसने गहरे लाल रंगकी चादर ओढ़ ली है। उधर सूर्यदेवताको भी पृथ्वीकी इस लाल चादरसे रीस हुई, उनने अपने

मुखको रोषसे इतना तप्त बनाया कि सारा आकाश लाल२ होगया। अब यह जानना कठिन था कि पृथ्वी और आकाशमें कुछ अन्तर भी है। इस रक्तावरण काल-वेलामें सलार मसऊदको भी करालकालने आ घेरा। राजा सुहृद्ध्वजके तीक्ष्ण बाणसे उसका वक्षस्थल भिद गया। यवनसेनामें भगदड़ मच गई। राजपूतोंने जयजयकार किया।

चन्द्रकलाको छिटकाती हुई सती सुन्दरीने कहा—'जिज्जीजी! उदास क्यों हो?' महलकी उच्च अटालिकापर खडी हुई, प्रौढ़ा स्त्रीने चौंककर पूछा—'कौन? अरी, तू है—आ बहन, आ।'

सती सुन्दरीने जवाब दिया—'जिज्जीजी! मैं तो आगई; पर आप उदास क्यों हैं?'

प्रौढ़ा स्त्री एक असमञ्जसमें पड़ गई—उसकी आखोंमें अमोल आसू झलक आये, उन्हें वह आखोंमें पी गई और बोली—'कुछ नहीं बहन! यों ही चित्तमें उद्वेगसा उठ रहा है। शाम होने आई पर युद्धके समाचार कुछ भी न मिले।'

प्रौढ़ा स्त्री राजा सुहृद्ध्वजकी रानी थी और सुन्दरी राजाके छोटे भाईकी बहू थी। रानीके भावको वह ताड़ गई और बोली—'जिज्जीजी! संग्राममें ऐसा ही होता है, राजपूतवीर निर्मोह होकर वीरताकी उपासना करते हैं और तब ही वह सफल होते हैं। अपनेको इसमें खेद करनेकी कौनसी बात है? किन्तु देखो तो, वह धूल कैसी उड़ रही है?'

रानी—'अरे हां, कोई घुड़सवार आरहा है।'

सुन्दरी—'हो न हो, वह राजदूत है।'

रानी—'मालूम तो ऐसा ही होता है।'

अभी यह कुछ निश्चय न कर पाई थीं कि घुड़सवार सिंह-द्वारपर आ धमका, उसका मुख खुला और द्वारपालोंने जय नाद किया। रानियोंके जीमें जी आया। राजदूतने आकर उनका अभिवादन किया और कहा—'श्री जिनेन्द्रका शासन जयवंत रहे। संग्राममें राजाकी विजय हुई है।' रानियोने प्रसन्न होकर राज दूतको पुरस्कार देकर विदा किया। हर्षोन्मादमें वे एक दूसरेके गले लिपट गई। गलबहियां डाले ही रानीने कहा—'यह तो हुआ, किन्तु सूर्यास्त होनेको आया, राजसेनाके पते नहीं, आज सबके भाग्यमें निराहार रहना ही बदा है क्या ?'

सुन्दरी बोली—'जिज्जीजी! फिर आप ऐसी बातें करने लगीं। सती स्त्रीके लिए सूर्य महाराजको प्रसन्न कर लेना क्या है ?'

यह कहकर सुन्दरीने जिनेन्द्रभगवानका स्मरण किया और प्रतिज्ञा की कि यदि मैंने आजन्म शीलव्रतका पूर्णत. पालन किया है, तो आज सूर्यप्रकाश उस समय तक लुप्त न हो जबतक राज-पुरुष भोजन न कर लें। पुण्यका प्रताप ऐसा ही हुआ! सब लोगोंने सानन्द भोजन कर लिये। जब लोग उठे, तो उन्होंने देखा, रातके नौ बज रहे हैं। उनके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। वे बाहर आये, उन्होंने सुना, यह सती सुन्दरीके शीलका माहात्म्य था। मूढ़ लोग कहने लगे और आज भी कहते सुने जाते हैं कि सती सुन्दरीके मनोरम रूपको देखकर सूर्यदेव रास्ता चलना भूल गये थे! राजा सुहृद्ध्वजने भी यह सब बातें सुनीं, सती सुन्दरीके प्रति उनके मनमें तरह २ के भाव उठने लगे।

...की रात थी। उजियाली छिटक रही थी। ... सुन्दरी अपने महलकी छतपर अकेली पड़ी सो रही थी। हवाके धीमे २ झोकोंसे उड़कर उसकी अलकें उसके कपोलोंसे अठखेलियां कर रहीं थीं। सहसा किसीकी परछाईंने सुन्दरीकी देहको ढक दिया! उसकी देहपर दिनसे रात होगई। धीरे २ एक पुरुष उसके पलङ्गके पास आकर खड़ा होगया, सतृष्ण नेत्रोंसे वह सुन्दरीकी रूप सुधाका पान करने लगा! किंतु इस अवस्थामें वह अधिक ठहर न सका, उसने झुककर अपना मुंह सती सुन्दरीके अरुण अधरोंपर रख दिया! सुंदरी हड़बड़ाकर उठ बैठी वह लुटीसी एक ओर खड़ी होगई! उसने देखा, वह मुख उसके प्राणाधिक पतिदेवका न था। तो यह कौन नर-पिशाच उसके एकान्तवासमें आ कूदा? वह गुस्सेमें लपलपे बेंतकी तरह थर-थर कांपने लगी। कामातुर नर पामरने सुन्दरीके शरीर पर हाथ डालते हुये कहा—'सुन्दरी! नाराज क्यों होती हो? आओ, तुम्हें राजरानी बनाऊंगा।' सुन्दरी ताड़ित नागिनकी तरह बल खाकर दूर जा खड़ी हुई और घृणासे उसने जमीनपर थूक दि[illegible]

उसने देखा यह नर- [illegible] बाय उसके जेठजीके और कोई नहीं [illegible] उसके [illegible] नहीं रहा। तब भी पतीके हृदयमें अनु[illegible] [illegible] उन्होंने चाहा, जेठजीको उनकी गलती सुझा दू। अब वह [illegible] छोड़कर उन्होंने दृढ़-तासे कहा यह भूल है, द[illegible] [illegible]रानीका महल पड़ोसमें है।'

[illegible] पुरुष [illegible] सकता है। सुहृद[illegible] भी यही हाल था, उस सु[illegible] [illegible] अर्थ ही नहीं समझा।

वह बोला—'प्यारी! यह भूल नहीं है—मैने तुम्हें अपने हृदयकी रानी बना लिया है। अब तुम बिलकुल मत डरो। तुम्हारा छोकरा पति भी अपने प्रेम-पथमें काटे नहीं बिछा सक्ता!'

पिछली बातको सुनते ही सुन्दरी सन्न हो रह गई, हिम्मत करके उसने पूछा—'उनका क्या हुआ?'

सुहृदध्वजने अट्टहास करके कहा—'पगली! उनका—उनका अब क्या करती है? वह अपने रास्ते लगा। आ—आ, अब तु मेरी दुलारी बन!'

सुन्दरीके धीरजका बांध टूट गया—उसने कड़ककर कहा—"खबरदार! नरपिशाच! तु मुझे असहाय जानकर अपमानित करना चाहता है? पर नहीं जानता, सतीके तेजको। वह तुझे और तेरे राज्यको पलभरमें भस्म कर देगा! जा, मेरा यह शाप खाली नहीं जायगा! और मुझे? मुझे सिवाय मेरे पतिदेवके कोई छू नहीं सक्ता, यह देख।"

सुन्दरीने झटसे एक छुरा निकालकर अपनी छातीमें भोंक लिया! 'श्री जिनेन्द्रको नमस्कार'के साथ ही उसके प्राण पखेरू उड़ गये। नराधम सुहृदध्वज खड़ा पछताता और हाथ मलता ही रहा। किन्तु अब क्या होता, चिड़ियां चुन गई खेत।

इतिहास कहता है कि सतीका शाप खाली न गया। उक्त घटनासे लगभग चालीस वर्षके अन्तराल कालमें ही सुहृदध्वजके राजवंशका नामनिशान इस धरातलपर न रहा! किन्तु हां, सती सुन्दरीका बखान आज भी गोंडे जिलेके आबाल-वृद्ध-वनिताके मुखपर है। यह शीलधर्मकी महिमाका अपूर्व प्रभाव है। बोलो, शील धर्मकी जय!

कामताप्रसाद जैन।